आँसू और पसीना

डाक्टर रामप्रताप बहादुर

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

इलाहाबाद
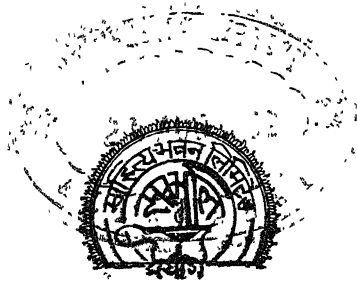
प्रकाशक

साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण १०००] १९४८ [मूल्य २)

यह पुस्तक

'गुदगुदी' के लेखक

डाक्टर एस० पी० खत्री

के नाम समर्पण करता हूँ ।

पुस्तक के बारे में

'आँसू और पसीना' पहले कहानी-संग्रह के रूप में छपाने का विचार था। परन्तु पैर के नीचे से अगर ज़मीन ही खिसक जाय तो कोई क्या करे। यानी पहले ऐसा विचार था कि बाक़ी ज़िन्दगी कहा-- नियाँ ही लिखता रहूँगा। लेकिन इस बीच भाग्य ने वह वह पलटे खाये और जीवन-चक्र ने वह वह तमाशे दिखाये कि कहानियाँ कहाँ से लिखता स्वयं मैं कहानी का विषय होकर रह गया।

अतएव अब मुझे कहानियाँ लिखने से एक प्रकार की चिढ़ सी हो गई है। दिमाग़ की ऐसी दशा है कि अब वह जग और जीवन को केवल एक मज़ाक़ समझने का आदी हो गया है। मन किसी भी प्रकार बात बनाकर कहने को राज़ी नहीं होता। इसलिये कला और उसके पहलुओं पर आँख उठाने को भी जी नहीं चाहता। अन्दर से बार बार कोई यही कहता है कि जो कुछ कहना है, अगर कहना आवश्यक समझते हो, साफ़ साफ़ कहो। 'हीरो' और 'हीरोइन' बनाकर जो उन्हें दुर्दशा में डाल कर कहानी का 'प्लाट' तैयार करते हो और मानव जीवन के सम्बन्ध में अति 'तरल' और कभी कभी निहायत ही उलझे हुए निष्कर्षों पर पहुँचते हो यह ढङ्ग कुछ ज़्यादा अच्छा नहीं। इस तरह स्वयं को धोखा देते हो और दूसरों को भी। अतएव कहानियाँ लिखना छोड़कर, अर्थात् गुड्डे गुड़िया का व्याह कराना और उनके बच्चों को कफ़न पहनाना छोड़कर, सीधी-सीधी बात जो कहनी है कहो। जिसको सुनना होगा सुनेगा अथवा अपना रास्ता लेगा। तुम व्यर्थ में कड़वी दवा पर मीठी चाशनी क्यों देते हो। आख़िर हर बात की एक हद होती है। यदि दस बीस हज़ार साल तक जग और जीवन

का अनुभव कर के भी आदमी ने अपना बचपन न छोड़ा तो तुम्हें क्या पड़ी है जो तुम आज भी उसे बच्चा समझ कर कड़वी दवा को मीठी बनाकर उसके गले के नीचे उतारना चाहते हो।

कहानियाँ न लिख सकने की अपनी मजबूरी और कठिनाई को जिस ढङ्ग से मैंने यहाँ प्रकट किया है इसका पढ़ने वालों पर ऐसा असर पड़ सकता है कि गोया जान-बूझ कर और सोच-समझ कर मैं इस मानसिक अथवा बौद्धिक निष्कर्ष पर पहुँचा। यदि ऐसा है तो यह सूरत वास्तविकता से बिल्कुल भिन्न है, इसलिए कि कहानियाँ लिखने के विरुद्ध इस प्रकार की कोई राय बनाकर मैंने कहानियाँ लिखना नहीं छोड़ा। बल्कि जब छः साल तक प्रयत्न करके भी कोई कहानी न लिख सका तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शायद कहानियाँ लिखने के लिए मेरे अन्दर पहले जैसी मानसिक अथवा आध्यात्मिक रुचि ही अब नहीं रही।

इसके विपरीत आल इन्डिया रेडियो की बदौलत हास्यमय अथवा दूसरे लेख लिखने के लिये जब भी लेखनी उठाई इस में विशेष रूप से जी लगा। मैं स्वयं नहीं बता सकता कि अधिक सफलता मुझे कहानी अथवा लेख लिखने में प्राप्त हुई है। मैं केवल इतना जानता हूँ कि जहाँ लेख लिखने को जी चाहता है वहाँ कहानी से अब जी घबराता है।

किन्तु कोई न कोई पुस्तक लिखनी ही थी। साथ-साथ यह भी सत्य है कि यदि और धंधों से खाने भर को कमा लेता तो कम से कम मैं अपने को इस दुर्दशा में न डालता कि एँड़ी-चोटी का पसीना एक करके क़लम रगड़ूँ और फिर अपना भाग्य साल दो साल के लिये किसी व्यवसायी प्रकाशक को सौंप कर बीस रुपये दस आने महीना 'रायल्टी' कमाऊँ। बल्कि प्रायः चूँकि मैं पैसे ही के लिए लिखता हूँ इसलिये 'कला कला के लिये' और 'कला जीवन के लिये' जैसे विषयों पर तर्क-वितर्क होते देखता हूँ तो मुझे इस बात से चिढ़ होती है कि

मेरी ओर कोई ध्यान ही नहीं दे रहा है, इसलिए कि वास्तव में मेरा भी यदि कोई स्थान है तो मैं तो 'कला पैसे के लिये' मानने वालों की सूची में आता है!

केवल मज़ाक़ नहीं कर रहा हूँ बल्कि मैं इस समय अपन समझ में एक अति गंभीर वास्तविकता की ओर संकेत कर रहा हूँ। औरों के बारे में नहीं कह सकता, इसलिये कि यदि ऐसा करूँ तो यह बात असभ्यता में गिनी जायगी। किन्तु अपने विषय में कहने का अधिकार अवश्य रखता हूँ कि मैं स्वयं इस वजह से नहीं लिखता कि मेरे अन्दर कोई ऐसी भावना है कि मैं कोई बड़ी बात कह रहा हूँ अथवा मानवता को नव-संदेश दे रहा हूँ। मेरी समझ में जहाँ तक मानवता को संदेश देने का प्रश्न है वह एक युग हुआ कृष्ण भगवान, गौतम बुद्ध, महात्मा ईसा, मोहम्मद साहब और दूसरे हमको दे गये। आश्चर्य यह है कि उस संदेश को मानवता ने आज भी अपनाया नहीं। सच बोलना, ईमानदारी बरतना, दूसरों को हानि न पहुँचाना, निःसहायों की सहायता करना, इत्यादि अब तक आदमी ने सीखा नहीं। इसलिये मेरी राय में बजाय किसी नये संदेश देने के अभी हमें बिना हिम्मत हारे हज़ार दो हज़ार साल और इसी संदेश को आदमियों के कानों में मंत्र की तरह सुनाते रहना चाहिये।

इसके अतिरिक्त, अगर दुनियाँ और उसके इतिहास के बारे में जानना है तो वह सारी बातें भी अन्य पुस्तकों में मौजूद हैं। जहाँ तक उच्च श्रेणी के साहित्य की बात है उसका जो प्रमाण कालिदास और शेक्सपियर से लेकर फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी साहित्य में मिलता है उसको हम आज भी छू नहीं सकते। इसलिये यदि इन्हीं कृतियों का अनुवाद करके लोगों को पढ़ाया जाय तो पढ़ने वालों को मेरी और मेरे जैसे दूसरे लिखने वालों की पुस्तकें पढ़ने से अधिक लाभ पहुँचेगा। और यदि इनके अतिरिक्त भी पढ़ने की चीज़ों की आवश्यकता है तो उनके लिखने वाले भी लगभग हर

देश की साहित्यिक चोटी पर विद्यमान हैं। इसलिये हमारी आवश्यकता तो किसी भी ओर से पैदा नहीं होती। मगर फिर भी हम लिखते हैं।

इसलिये प्रश्न तो वास्तव में यह है कि आख़िर हम छुट भैये लिखते ही क्यों हैं। मेरी समझ में इसका उत्तर यह है कि हम बहुधा पैसे के वास्ते लिखते हैं! यानी इस वजह से नहीं लिखते कि हम कोई प्रतिभावान हैं। यह मालूम है कि हममें से प्रतिभावान बहुत कम ही हैं। वैसे तो प्रतिभावान व्यक्तियों के बारे में भी लोगों का यह कहना है कि वे आमतौर से पैदा नहीं होते। बर्नार्डशा का कथन है कि पैदायशी प्रतिभा पाँच ही फ़ीसदी होती है, पञ्चानवे फ़ीसदी योग्यता तो सिर्फ़ क़लम ही रगड़ने से आती है। किन्तु मुश्किल यह है कि पञ्चानवे फ़ीसदी क़लम रगड़ कर भी ज़िन्दगी के आख़ीर में प्रतिभावान होने के हौसले को पूरा नहीं कर सकते।

मगर आप कहेंगे कि यदि सारे लिखने वालों का यही दृष्टिकोण हो जाय तब तो प्रतिभावान पैदा हो ही न सकेंगे, क्योंकि फिर हर आदमी अपने को मूर्ख समझ कर हिम्मत हार कर बैठ रहना चाहेगा। इस तर्क का महत्व मैं स्वीकार करने को तैयार हूँ। किन्तु मेरा विश्वास यह है कि यदि सभी लिखने और किताबें छपाने लग जायँ, जैसा कि इस देश में इस समय हो रहा है, तो प्रतिभा का गला तो समय इस तरह भी घोंट कर रख देगा।

इस समय परिस्थिति यह है कि जो भी चार पंक्ति लिख सकता है वह तुरत लेखक अथवा साहित्यकार बन जाता है। फिर वह पत्रों और पत्रिकाओं के पन्ने भरने लगता है। और जब कुछ पन्ने इस तरह भर लेता है तो उस सारी सामिग्री को पुस्तक के रूप में छपवा देता है (ठीक वैसे ही जैसे मैं करता हूँ)। फिर बाज़ार में पुस्तकों की वह भरमार होती है कि पुस्तकों तथा उनके लिखने वालों दोनों को कोई कौड़ी के भाव भी नहीं पूछता।

ज्यों-ज्यों हम तरक़्क़ी करते हैं किताब लिखने वालों के साथ किताब छापने वालों की भी गिनती बढ़ती जाती है। प्रत्येक मनुष्य जो यह समझता है कि वह चालाकी तथा ठगी से इस तरह चार पैसे कमा सकता है वह प्रकाशक अथवा पुस्तक विक्रेता बन जाता है। फिर ये लोग किताब लिखने वालों के साथ वह धाँधली और ज़बरदस्ती शुरू कर देते हैं कि लिखने वाला ख़ून ही थूक कर मरता है। अच्छे बुरे लिखने वालों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। किताबों का बिकना बेचने वालों के प्रयत्नों पर निर्भर होता है। फिर अच्छे अच्छे लिखने वाले आने और टके वेतन पर प्रेस के 'प्रूफ़' देखते हैं और इस तरह अपना पेट भरने का प्रयत्न करते हैं। पत्रिकाओं में पारिश्रमिक पर कहानी लिखने वाले साग-भाजी बेचते दिखाई देने लगते हैं। इसलिये कि पत्रिकाओं को उनके बजाय खाते-पीते लोगों के शौक़ीन अथवा बदशौक़ लड़कों लड़कियों की लिखी हुई कहानियाँ मुफ़्त मिल जाती हैं। इस तरह प्रतिभाशालियों का वर्ग साहित्य के बाज़ार से भाग खड़ा होता है और बम्बई जाकर सिनेमा के लिये 'भैरवीं' लिखता और 'मल्हार' गाता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या हम रोक सकते हैं समय की इस प्रवृत्ति तथा वेग को। मेरा विचार तो यह है कि हम इसे रोक नहीं सकते। अर्थात् क्या हम छुटभैये लिखना बन्द कर देंगे केवल इस विचार और भावना के कारण कि इस तरह हम अपने देश के प्रतिभावान व्यक्तियों का हनन कर रहे हैं? उत्तर मिलता है: 'नहीं रोकेंगे हम अपना लिखना। यदि प्रतिभाशाली मर जायेंगे तो उनको मर जाने दीजिये और समाप्त हो जाने दीजिये समय की भेंट चढ़ कर। किन्तु हम अपना और अपने बच्चों का गला क्यों और कैसे घोटें? हमारे सामने भी सवाल रोटी ही का है। हम भी केवल पेट ही भरना चाहते हैं। यह भूख पूँजीवाद की देन है। परन्तु पूँजीवाद को कुछ हम ही थोड़े लाये थे। मानव इतिहास की यह देन है। इसलिये पूरा मानव-समाज इसका मूल्य अदा करे। जिस समाज को इतना मालूम नहीं कि किसकी

पुस्तकें छापनी और किसकी नहीं छापनी चाहिये, कौन किताब अच्छी और कौन बुरी है, उस समाज को इसी आग में जलना है जिसमें वह इस समय हमारी आँखों के सामने जलकर भस्म हो रहा है। जहाँ किताबें लाभ के विचार से छापी जाती हैं और छाप कर केवल लाभ ही बढ़ाने के लिये पढ़े लिखे महापुरुषों को रिश्वत देकर उन्हें 'कोर्स' में कराया जाता है वहाँ प्रतिभावान नहीं पनप सकते। इसलिये अच्छा हो यदि इस देश में प्रतिभाशाली पैदा ही न हों।'

यह एक बीच की बात पैदा हो गई थी। वास्तव में मुझे कहना यह था कि इस संग्रह में पाँच कहानियाँ और पाँच निबन्ध सम्मिलित हैं। केवल कहानियाँ यहाँ इस कारण नहीं हैं कि दस कहानियाँ मेरे पास तैयार न थीं। परन्तु पुस्तक छपानी थी इसलिये कहानियाँ और निबन्ध एक जगह एकत्रित करके 'आँसू और पसीना' आपके सामने उपस्थित कर रहा हूँ। हो सकता है कि कहानियाँ पढ़ने के पश्चात् निबन्ध पढ़ते समय, स्वाद बदलते रहने से, कुछ पढ़ने वालों को विशेष आनन्द आये। यदि ऐसा हुआ तो कहानियाँ न लिखने की मेरी विवशता क्या ही गुल खिलायेगी!

'सैलाब' मेरी नई कहानी है, जिसके लिखने में प्रतीकों (Symbols) का सहारा लिया गया है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के बीच अंग्रेज़ी पूँजी तथा माल इस देश में इस बहुतायत से आया कि उसने हमारे आर्थिक जीवन को जैसे सैलाब का शिकार बना दिया। अतः जो कुछ हमारे पास था वह डूब अथवा बह गया। उस सैलाब से जो बचे वे भूख, बुख़ार, जाड़ा, हैज़ा, प्लेग और मुक़दमेबाज़ी से तबाह हो गये। तात्पर्य यह कि 'सैलाब' केवल कहानी नहीं है, बल्कि इसमें आपको भारतवर्ष का उन्नीसवीं और शुरू बीसवीं शताब्दी का आर्थिक इतिहास मिलेगा। कहानी के अन्त में अङ्गरेज़ी चिकित्सा के प्रतीक कोट कमीज़ पहने कम्पाउण्डर बाबू सामन्तीय भारत (Feudal India) की नाड़ी देख कर उसकी मृत्यु की घोषणा करते हैं।

'ज़िन्दगी' हास्यमय निबन्ध है जिसे मैंने 'आल इन्डिया रेडियो' लखनऊ से ब्रॉडकास्ट किया था। रेडियो की बातचीत का सिलसिला था—"बहुत शौर सुनते थे—"

'खोज' नई कहानी है, जिसमें वेश्या के जीवन का दूसरा चित्र उपस्थित किया गया है। 'ज़रीना' की लोकप्रियता देख कर मुझे सन्देह हुआ कि सम्भवतः मैंने उस कहानी में तवायफ़ की ज़िन्दगी के एक ही पहलू पर प्रकाश डाला था। इसलिये दूसरा पहलू भी उपस्थित करना ज़रूरी हो गया।

'मेरा पहला ब्राडकास्ट' भी रेडियो के लिये एक हास्यमय निबन्ध था जो ब्राडकास्ट न हो सका। लखनऊ रेडियो वाले हास्यमय बातचीत की एक कड़ी चला रहे थे, जिसका नाम था—'ज़िन्दगी की सुर्ख़ियाँ'। समय पर मेरे लखनऊ न पहुँच सकने के कारण बातचीत ब्राडकास्ट न हो सकी।

'सोच' नई कहानी है, जिसके हर पात्र को सोच का घुन लग गया है। मुख्य-पात्र अथवा 'हीरो' एक क्रान्तिकारी है, जिसका अन्त निहायत ही अक्रान्तिकारी ढङ्ग से होता है। सोच ने सरोज बाबू को मारा और जो जी रहे हैं उन्हें भी सोच ही मार रहा है। कहानी आदि से अन्त तक सोच है।

'मैं कैसे लिखता हूँ—कहानी' लखनऊ रेडियो से ब्राडकास्ट की हुई एक बातचीत है। 'मैं कैसे लिखता हूँ', हिन्दुस्तानी में बातचीत की कड़ी का नाम था और मुझसे कहानी लिखने के बारे में बोलने को कहा गया था। 'उर्दू उपन्यास और कहानियाँ' भी ऐसी ही बातचीत है, जिसे मैंने हिन्दी-संसार को सम्बोधित करके ब्राडकास्ट किया था। बातचीत का सिलसिला था—'चिराग़ तले अंधेरा', जिसमें उर्दू लिखने वाले हिन्दी के संसार को और हिन्दी लिखने वाले उर्दू के संसार को यह बताने का प्रयत्न कर रहे थे कि उर्दू और हिन्दी

साहित्य में क्या काम हो रहा है।

'आँखों का निमन्त्रण' और 'रोगी' एक तरह से मेरी पुरानी कहानियाँ हैं जो कभी हिन्दी पत्रिका 'विचार' में छपी थीं। परन्तु यहाँ इस पुस्तक में सम्मिलित करते समय मैंने उनको बिल्कुल बदल डाला है। 'आँखों का निमन्त्रण' से ख़ास दिलचस्पी नवयुवकों को होगी। आशा है कि इसके होने से इस आयु के पढ़ने वाले पुस्तक से बिल्कुल निराश न होने पायेंगे! 'बीमार' नामक कहानी एक गंभीर प्रवृत्ति वाले नवयुवक के जीवन पर प्रकाश डालती है, विशेष रूप से जब वह सुन्दरता और प्रेम से मुँह मोड़ कर 'लोहे' का पात्र बन जाता है। किन्तु इसके बावजूद भी स्त्री उसके लिये बिल्कुल सरकण्डे की बनी सिद्ध नहीं होती, जैसा कि वह अपनी क्रान्तिमय भावना में सोचे बैठा था। 'आँसू और पसीना' नया निबन्ध है, जिसको मैंने इस पुस्तक के लिये लिखा है।

इस पुस्तक के तैयार करने में मेरे शिष्य श्री० चन्द्र कुमार वर्मा, एम० ए०, से मुझे जो सहायता मिली है मैं उसे केवल शब्दों में प्रकट नहीं कर सकता। मुझे आशा है कि इस तरह जो उनका लगाव हिन्दी से पैदा हो गया है वह उन्हें आगे हिन्दी की सेवा करने के लिये उत्साहित करेगा।

३३, कचेहरी रोड,
इलाहाबाद,
जुलाई, १९४८

रामप्रताप बहादुर

विषय-सूची

पृष्ठ

पुस्तक के बारे में

१—सैलाब ... १-१३

२—ज़िन्दगी ... १४-२५

३—खोज ... २६-४६

४—मेरा पहला ब्रॉडकास्ट ... ४७-५५

५—सोच ... ५६-६६

६—मैं कैसे लिखता हूँ—कहानी ... ७०-७७

७—आँखों का निमन्त्रण ... ७८-६५

८—उर्दू उपन्यास और कहानियाँ ... ६६-१०६

६—बीमार ... १०७-१२५

१०—आँसू और पसीना ... १२६-१३०

आँसू

और

पसीना

सैलाब

वह गाँव नदी के किनारे, नदी से लगा हुआ, पहले भी था और अब भी है। लेकिन अगर सोचिये तो पहले और अब में बहुत अन्तर है। यानी पहले उस गाँव में मँहगू साहु रहते थे और अब वे नहीं रहे। मँहगू साहु आदमी थे, गाँव न थे। लेकिन फिर भी उस नदी के किनारे, नदी से लगे हुए गाँव को, जिसको आज भी थुन्ही कहते हैं, मँहगू साहु को याद किये बिना न पहले कोई सोच सकता था और न अब सोच सकता है।

जब मँहगू साहु जीवित थे तब ऐसा था और आज जब वे नहीं रहे तब भी ऐसा है। यानी एक समय था जब हम थुन्ही को मँहगू साहु के नाम, धन अर्थात् आस पास में फैले हुए उनके प्रभाव और दबदबे को स्मरण कर के सोचते थे और आज उनके न रहने पर हम थुन्ही को मँहगू साहु की याद ताज़ा करके सोचते हैं।

देहाती बोलचाल में थुन्ही के मतलब होते हैं थून्ही, अथवा वह लम्बी, मोटी और मज़बूत लकड़ी जिसको मकानों की दीवारों पर रख कर उसकी कमर के सहारे खपरैल या फूस की छत बिछाते हैं। उसी को जब कुएं पर डाल दिया जाता है तो उसके सीने पर पैर

रख कर देहाती औरतें पानी भरती हैं ।

कहने का तात्पर्य यह कि थुन्ही सचमुच थून्ही था, इसलिये कि आस पास की पचासों मील की दुनियाँ के लिये थुन्ही वास्तव में थून्ही का काम करता था ।

थुन्ही राती नदी के किनारे बसा हुआ है और राती साल के किसी मौसम में सूखती नहीं, इसलिये कि वह पहाड़ों से निकलती है और सौ दो सौ मील ज़मीन की नीचाई ऊँचाई पर बह कर सरजू से जा मिलती है और फिर सरजू गंगा मे मिल जाती है । और अगर राती सूख जाता तो थुन्ही सूख जाता, इसलिये कि राती थुन्ही के लिये वही थी जो शहतीर मकानों की छतों के लिये अथवा कुएँ पर पानी भरने वाली औरतों के लिये होती है । जिस तरह राती पर बहता हुआ व्यापार थुन्ही की जान था उसी तरह थुन्ही और महँगू साहु का धन और व्यापार आस पास के पचासों मील तक फैले हुए देहात के लिये शहतीर की तरह सहारे का काम करते थे ।

थुन्ही के लिये महँगू साहु वही थे जो थुन्ही था महँगू साहु के लिये । बल्कि कुछ का ख़्याल तो यह भी था कि महँगू साहु ही थुन्ही थे । किन्तु स्वयं महँगू ने ऐसा कभी भूल कर भी न सोचा, क्योंकि वास्तव मे वह अपने को थुन्हीं की बदौलत समझते थे । उनका ऐसा विचार था जब उनके पास धन था, बैल थे, बैल गाड़ियाँ थी, घोड़े और टट्टू थे, और जब उनके धन की ख्याति नैपाल की तराई में से होकर जाने वाले सौदागर हिमालय पर्वत की घाटियों तक ले जाते थे और उनके उसी नाम को वोरियों में भर कर राती सरजू में ले जाती और सरजू उन्हें गंगा के दूर दूर किनारों पर उतारती थी ।

महँगू महाजन थे, सौदागर थे, साहु थे, ज़मींदार थे, भले आदमी थे, क्या नहीं थे । महँगू के यहाँ लेन-देन होता था, व्यापार होता था, हल्दी बिकती थी, खेती होती थी, लोगों की बात और इज़्ज़त

रहती थी। दर्जनों उनके बड़े बड़े मकान थे सैकड़ों मवेशी थे, कई सवारियाँ थीं और उनके यहाँ अनगिनत भेंड़, बकरियाँ, कुत्ते, तोते, तीतर और बटेर पले थे। तात्पर्य यह कि उनके पास सब कुछ था जो किसी बड़े आदमी के पास होता है। यदि कुछ नहीं था तो हाथी था, और वह इस कारण कि जिस बिरादरी के महँगू साहु थे उस में हाथी रखना एक प्रकार से वर्जित था। इसलिये महँगू साहु जहाँ सब कुछ रखते थे वहाँ हाथी नहीं रखते थे। वैसे हाथी से उन्हें एक प्रकार का लगाव भी था जिसे वह कभी भुला नहीं सकते थे।

बच्चे सभी हाथी की कल्पना से खुशी के मारे विह्वल हो जाते हैं। परन्तु महँगू का हाथी से जो मानसिक लगाव था वह केवल उनका बचपन न था। बल्कि वह लगाव विशेष रूप से उस दिन से शुरू हुआ जिस दिन उन्होंने, नदी के किनारे से मिर्चों की बोरियाँ ख़रीद कर लौटते समय, एक नन्हें से खिड़रिच* को हाथी के मस्तक की ऊँचाई से उड़ते देखा। किन्तु उस शकुन और मिर्चों के भाव बढ़ जाने के बावजूद महँगू साहु राजा न हुए तो उसका यह कारण न था कि उनके राजा होने में उसके बाद कुछ बाक़ी रह गया। बल्कि महँगू साहु जवानी की उस सुबह से, जब उन्होंने खिड़-रिच को हाथी के मस्तक की ऊँचाई से उड़ते देखा, दिन प्रति दिन यदि कुछ हुए तो केवल राजा ही हुए। परन्तु महँगू ने राजा होकर भी अपने को राजा कभी नहीं समझा। उसके पीछे केवल बिरादरी की बात न थी। बल्कि महँगू राजा होने से इतना ही डरते थे जितना हाथी रखने से।

परन्तु एक हाथी के न होने ने महँगू साहु को वे हाथी के होने

---

*खिड़रिच नाम की एक चिड़िया होती है, जिसके बारे में देहातों में कहीं कहीं ऐसा विश्वास है कि अगर उसे कोई हाथी के माथे की ऊँचाई से उड़ते देख ले तो वह राजा हो जाता है।

से न रोका। हाथी न रखते हुए भी जब समय बदला तो जहाँ दूसरे हाथी रख कर मिटे वहाँ महँगू बिना हाथी रक्खे मिट गये। जब समय बदलता है तो सब के लिये बदलता है। यह ज़रूर है कि किसी के लिये आज बदलता है तो किसी के लिये कल, किसी के लिये कम बदलता है तो किसी के लिये ज़्यादा। किन्तु जब महँगू साहु के लिये समय बदला तो वह पूरे थुन्ही के लिये बदला, और थुन्ही के साथ साथ उन हज़ारों लाखों के लिये बदला जो थुन्ही के आस पास केवल थुन्ही की बदौलत जीते और मरते थे। वास्तव में वह केवल समय ही नहीं बदला था, बल्कि उसके साथ नदी की धारा भी बदली थी। और जब नदी की धारा बदलती है तो वह यकायक बदल जाती है। अतएव वही राप्ती जो थुन्ही के किनारे किनारे चुपचाप साल-साल बहा करती थी उसने अपना बहाव एक बरसाती रात में अकस्मात् बदल दिया।

उस बरसाती रात में क्या-क्या हुआ और बरसाती राप्ती ने थुन्ही वालों के साथ क्या-क्या किया आज थुन्ही में कम ही लोगों को मालूम है। उस रात के बचने वालों में से आज कम रहे। जो हैं भी उनमें से कोई बहरा, गूँगा या अन्धा हो चुका है, तो कोई एक युग से लक़वा का रोगी बना चारपाई पकड़े पड़ा है। अतएव आज साठ और नौ उनहत्तर साल की अवस्था में यदि कोई ऐसा भी है जिसकी ज़बान अब भी चलती है तो वे हैं मँहगू साहु। मँहगू साहु आज भी नदी के किनारे, दिन डूब जाने के बाद, मल्लाहों के साथ गाँजे की चिलम पीकर बताते हैं कि जब सैलाब आया तो गाँव वाले सो रहे थे। नदी यों तो सुबह ही से बढ़ रही थी और तेज़ बढ़ रही थी। परन्तु नदी हर बरसात में बढ़ती थी और बढ़ कर गाँव के शिवाले का चबूतरा छूकर घटने लगती थी। शिवाले के बरगद की लम्बी जटायें जब बरसाती पानी पी लेतीं और बरगद के नीचे बैठे हुए शिवजी के चरण बरसाती लहरें छू लेतीं तो पानी आप से आप

हटने लगता था। जब सैलाब आया तो गाँव वाले सोये हुए थे। मँहगू साहु बताते हैं कि रात में एकदम शोर मचा। लोग बदहवास मकानों से निकल कर भागने लगे। बाहर निकल कर गाँव वालों ने देखा कि गाँव पानी से घिर चुका था। पानी वेग से गाँव में गिर रहा था। उसके शोर से कुछ भी सुनाई न पड़ता था। केवल औरतों बच्चों का रोना चिल्लाना और दीवारों का धमाधम गिरना सुनाई देता था। देखते-देखते जैसे पूरा गाँव बह चला। मँहगू साहु झपट कर अन्दर गये और तीतर का पिंजड़ा बाहर निकाल लाये। फिर अपनी लड़की और स्त्री का हाथ पकड़ कर उन्होंने चाहा कि सामने की लीक को, जिस पर पहले बैलगाड़ियाँ चलती थीं, पार कर दूसरी तरफ निकल जायँ। परन्तु लीक नहर बन चुकी थी और पानी उसमें ज़ोर मारता हुआ बह रहा था। बीबी का हाथ साहु के हाथ से छूट गया और वह धार के साथ बहती हुई निकल गईं। महँगू साहु तीतर का पिंजड़ा छोड़ कर तैरने लगे। लड़की ने महँगू की सदरी पकड़ ली थी। जब महँगू सामने वाले टीले पर पहुँचे तो लड़की की साड़ी में उलझा हुआ तीतर का पिंजड़ा भी किनारे लगा। रात के अँधेरे में महँगू साहु ने देखा कि पानी तेज़ी से बढ़ रहा था। गाय, बैल, बकरियाँ और आदमी सब बहते चले जा रहे थे। महँगू ने सामने के पेड़ पर लड़की को चढ़ाया, और स्वयं भी तीतर का पिंजड़ा लेकर एक डाल पर जा बैठे। प्रातःकाल तक गाँव का तीन चौथाई नदी काट कर बहा ले गई थी। जो बचा रह गया था वह मल्लाहों और चमारों की बस्ती थी, जिसके सिर्फ छप्पर पानी के ऊपर दिखाई देते थे। आस-पास की दुनियाँ पानी की दुनियाँ बन गई थी। कहीं-कहीं वृक्षों के ऊपर की फुनगियाँ दिखाई पड़ती थीं। महँगू ने तीतर के पिंजड़े को एक डाल पर लटका दिया था। इस तरह वे दो रातें और एक दिन पेड़ पर बैठे रहे। लड़की दूसरी रात को ऊँघ कर पानी में गिर पड़ी। पेड़ के नीचे पानी 'सूं-सूं'

करता हुआ बह रहा था। लड़की के पानी में गिरने से जो धमाका हुआ उससे महँगू साहु, जो स्वयं झपकी ले रहे थे, जाग उठे। किन्तु धार की तेज़ी देख कर हिम्मत नीचे उतरने की न हुई। लड़की तीसरे दिन बहते हुए केले के तने से लिपटी हुई कई मील की दूरी पर जीवित पाई गई।

सैलाब जिस तेज़ी से आया था उसी तेज़ी से घटने लगा। डेढ़ दिन में दरिया पेट में आ गया। गाँव में दस बीस आदमियों को छोड़ कर, जो पेड़ों पर लटके हुए थे, कुछ न बचा था। शिवाला गिर कर दरिया के पेट में चला गया था। शिव जी बिखरे हुए अपनी जगह पर पड़े थे। गाँव के बाबू साहब का हाथी, जो शिवाले के पास बरगद के नीचे बँधता था, बरगद के साथ जंजीर से बँधा हुआ तेरह मील की दूरी पर मरा हुआ सरजू के किनारे बहता पाया गया।

इतना क़िस्सा सुना कर महँगू साहु ने सदरी में से घड़ी निकाली और उसे कंडे की आग के पास ले जाकर देखा। आठ बज चुके थे। इसलिये तीतर का पिंजड़ा उठा कर दरिया के किनारे से चल दिये।

ठीक तो कोई नहीं बता सकता, लेकिन एक ज़माने से महँगू साहु इसी तरह साँझ वेला दरिया के किनारे जाते थे, एक हाथ में तीतर का पिंजड़ा और दूसरे हाथ में सोंटा लिये हुए। नदी किनारे नित्य क्रियायों से मुक्त होते, फिर मल्लाहों के साथ गांजा पीकर सैलाब से पहले और सैलाब के बाद की थुन्ही की कहानी सुनाते। पूरी कहानी मल्लाहों को कभी भी मालूम न हो सकी क्योंकि घंटा डेढ़ घंटा इस तरह अपना अथवा थुन्ही का दास्तान सुना कर महँगू अपनी आँखों की घटती हुई ज्योति से कंडे की आग के पास घड़ी ले जाकर समय देखते और घड़ी में आठ बजा देख कर नदी के किनारे से चल देते। पूरी कहानी शायद कभी समाप्त हो भी नहीं सकती थी, इस लिये कि नदी में नाव चलाने वाले मल्लाहों के लिये महँगू साहु

और उनकी हर चीज़ कभी समाप्त न होने वाले दास्तान थे।

वे अपनी घड़ी के बारे में बताते, जिसे चेन के साथ सदरी के सामने की जेब में सदैव लिये रहते थे, कि उसे उन्होंने एक नैपाली सौदागर से ख़रीदी थी। घड़ी के अतिरिक्त उनके पास एक कम्बल भी था जिसके रोयें गिर गये थे, मगर अन्दर का ऊनी खोल अब भी बाक़ी था, जिस पर बाल जमा कर वह कम्बल बना रहा होगा। महँगू साहु बताते—घड़ी जर्मनी और कम्बल विलायत में बने थे और ये दोनों चीज़ें उन्होंने उसी नैपाली व्यापारी से ख़रीदी थीं जो, महँगू साहु के कहने के अनुसार, हर पाँच साल पर थुन्ही से होकर विदेशी माल लिये गुज़रता था। रास्ते में कभी वह सौदागर अपना कोई माल बेचता न था। सारी विदेशी चीज़ें नैपाल ले जाकर केवल महाराजा और बड़े तथा छोटे सरकारों के हाथ बेचता था। महँगू साहु के वास्ते केवल उसका प्रेम था जो उसने कम्बल और घड़ी उनके हाथ बेच दी। घड़ी और कम्बल की प्रशंसा करते हुए महँगू कम्बल की आयु लगभग अड़तालीस साल बताते और कहते कि विलायती कम्बल इतना गर्म था कि उसे बदन पर डाल कर अगर कोई जाड़े की रात में बाहर मैदान ही में पड़ा रह जाय तो सर्दी नहीं लग सकती थी। इसी तरह घड़ी की भी कहानी सुनाते, जिसको देख कर महँगू ठीक-ठीक बता सकते थे कि सूर्य ठीक समय पर निकला है या नहीं। कहते थे कि तीस साल से घड़ी न कभी बिगड़ी और न मरम्मत के लिये गई। बातों बातों में वे यह भी कहते कि अगर घड़ी में कुंजी न दी जाय तब भी वह चलती रहती थी। हालांकि साथ-साथ वे यह भी, अपनी अथवा घड़ी की प्रशंसा में, कह देते कि कभी ऐसा न हुआ कि वे अपनी घड़ी में कुंजी देना भूल गये हों। बताते थे कि सैलाब में घिरे हुए जब वे पेड़ पर बैठे थे तब भी घड़ी में कुँजी लगाना नहीं भूले। सैलाब आने पर जब घर से निकल भागे तो घड़ी सदरी में थी, इसलिये भी वह तीतर

की तरह उनके साथ चली आई। कम्बल उन्हें सैलाब के बाद गिरी हुई दीवार के नीचे मिला। जहाँ सैलाब में सारी चीज़ें सड़ गल कर बह गईं वहाँ अकेला कम्बल था जो पानी में भीग कर अपना वज़न लिए वहीं का वहीं रह गया। मँहगू साहु की दृष्टि में उस कम्बल की यह भी एक बड़ी ख़ूबी थी जो उसे इतना बड़ा सैलाब भी बहा न सका। और जो उसके बाल झड़ गये थे उसके बारे में उनका यह ख़याल था कि अगर वह दीवार के नीचे दबा न रह जाता तो उसके बाल हरगिज़ न गिरते, क्योंकि जर्मन घड़ी की तरह विलायती कम्बल भी अमर था। नैपाल के सौदागर ने ऐसा ही बताया भी था। मल्लाहों ने घड़ी तो देखी थी किन्तु कम्बल उन्होंने कभी न देखा। मँहगू साहु जब यह दास्तान सुनाते तो हमेशा कहते—"कम्बल भी किसी दिन लाकर दिखाऊँगा।" लेकिन मल्लाहों के लिये वह दिन कभी न आया।

इतनी कहानी सुना कर मँहगू ने नैपाल के सौदागर की दी हुई घड़ी निकाल कर देखी और कहने लगे—सैलाब भी नैपाल ही से आया था। नैपाल में चारो तरफ़ पहाड़ियों से घिरा हुआ एक बहुत बड़ा ताल था, जिसमें बरसात का पानी इकट्ठा होता था। उस साल नैपाल में इतनी ज़ोर की वर्षा हुई कि ताल में अधिक पानी इकट्ठा हो जाने से आस पास की धान की खेती को हानि पहुँचने का ख़तरा पैदा हो गया। अतएव ताल का एक बाँध काट दिया गया। राप्ती यों ही बढ़ी हुई थी। बाँध के टूटने से पानी दनदनाता हुआ आया। थुन्ही का तीन चौथाई हिस्सा देखते देखते राप्ती के पेट में समा गया। सैकड़ों गाँव और हज़ारों आदमी रातोरात बह गये। जिन्होंने भागने अथवा तैरने की कोशिश की वे दो चार मील आगे जाकर डूबे। बचा कोई नहीं सिवाय उनके जो उन वृक्षों या मकानों पर चढ़ गये थे जिन्हें सैलाब गिरा अथवा बहा न सका। लेकिन जो इस तरह बच गये उन्होंने बच कर भी यही अनुभव किया कि जो नहीं रहे वही अच्छे

रहे। इसलिए कि जो रह गये थे उनके लिये जीवन स्वयं एक निरन्तर सैलाब बन गया, जिनमें जीने वाले दिन रात डूबते उतराते रहे।

उन्हीं बचने वालों में मँहगू भी थे। उन्होंने भी उस मरने के हाथों जीकर यही अनुभव किया कि यदि वे न बचे होते तो बुरा न होता। लेकिन ऐसे जीने को भी जीना ही कहते हैं क्योंकि इस तरह जीने वाला भी अपनी ज़िन्दगी मौत से बदलना नहीं चाहता। सैलाब के बाद गाँव में बुख़ार की बीमारी चली। जो सैलाब से बचे थे वे बुख़ार से मरे और जो बुख़ार से बचे वे भूख के मारे कुत्तों बिल्लियों की मौत मरे। अपने घर में रह गये थे, अपनी लड़की के अतिरिक्त, केवल महँगू साहु। किन्तु महँगू साहु ने चूँकि इस बीच में यह निश्चय कर लिया था कि अन्त में कोई किसी का नहीं होता और आदमी को अपने जीवन का बोझ आप ही ढोना पड़ता है इसलिये जब हैज़े की बीमारी से अकेली लड़की भी चल बसी तो महँगू ज़्यादा हिम्मत न हारे। हाँ सर के चन्द बाल जो काले रह गये थे वे भी सफ़ेद हो गये। चेहरे की झुर्रियाँ मिलकर गहरी रेखायें बन गईं थीं। बुढ़ापे में आदमी का रंग यों भी अधिक माने नहीं रखता। किन्तु महँगू साहु के बारे में अब यह भी आसानी से नहीं बताया जा सकता था कि वे थे किस रंग के। कपड़े लत्ते पहले भी अधिक नहीं पहिनते थे और अब उनहत्तर साल की अवस्था में पहनते भी तो क्या पहनते। ले दे के धोती के अलावा सदरी रह गई थी, जिसे अब पहिनते कम कन्धे पर डाले ज़्यादा रहते थे। बायें हाथ में वह सोटा रहता जिस पर झुक कर अब उनका बुढ़ापा चलता था। और जब दरिया के किनारे सुबह शाम जाते तो दाहिने हाथ में पिंजड़ा भी होता जिसमें वह तीतर था, जिसे महँगू साहु अपनी जान के साथ सैलाब में से बचा लाये थे। पिंजड़ा वही रहा परन्तु तीतर बदलते रहे। एक ही तीतर इतने दिन जीता भी कैसे।

महँगू साहु के पास जब सब कुछ था तब भी वे सुबह शाम दरिया के किनारे जाया करते थे और जब उनके कुछ भी न रहा और उनका कोई न रहा तब भी उनके लिए वही दरिया का किनारा था। अर्थात् दरिया के किनारे जाना जैसे उनके जीने का बहाना था। दरिया में नहाते, सूरज की ओर मुँह करके खड़े खड़े एक लोटा पानी गिरा कर कुछ गुनगुनाते, फिर गाँव के दूसरे नहाने आने वालों से बातें करते। नदी के इस पार से उस पार और उस पार से इस पार उतरने वालों से देश काल का हाल पूछते। तीतर को पानी पिला कर उसे रेतीली ओदी ज़मीन पर दीमक खाने को छोड़ देते। दूर दूर बाज़ारों में बिकने जाने वाली चीज़ें जो नावों से उतरती रहतीं उनका भाव पूछते। इस तरह वह रोज़ सुबह शाम हाथी से लेकर बटेर तक हर चीज़ का दाम पूछते। फिर वापस आकर घर में पड़ रहते।

दिन रात का शेष समय वह कहाँ और किस तरह बिताते यह गाँव वालों में कम ही को या शायद किसी को भी मालूम न था। महँगू साहु अब क्या खाते और कमाते थे यह भी किसी को क्या मालूम होता। यदि महँगू के उस भेद से कोई भिज्ञ हो सकता था तो वह उनका तीतर था जो घर में महँगू का अकेला साथी था। जब दीवार की नींव खसक जाती है तो किसी और सहारे नहीं ठहरती और जब किसी का समय बदलता है तो आम तौर से वह अच्छी तरह बदलता है। चुनांचे सैलाब ने जहाँ सारा धन दौलत ले लिया वहाँ समय ने अपने जान में महँगू के जीने के लिये कुछ भी न छोड़ा। तीन गाँव की ज़मींदारी दरिया ने काट कर उस पार के जमींदारों के हिस्से में डाल दिया था। शिवाले के पीछे महँगू का जो पक्का मकान था वह शिवाले के साथ रातों की धार में आ गया था। और जब शिवाला ही गिर गया तो महँगू के मकान का गिरना क्या बड़ी बात थी। जब भगवान ही पर आफ़त आई थी तो आदमी का क्या रोना। युग-युग से थुन्हीं वाले मानते

आये थे कि चाहे दुनिया डूब जाय किन्तु शिवाले को आँच नहीं आ सकती थी। इसलिये आज जब शिवाला ही नहीं रहा तो थुन्ही कैसे रहता।

महँगू के घर में जो धन था उस पर से अब नदी बह रही थी। कम्बल के अतिरिक्त अगर कोई और चीज़ मिली तो वह उनकी बही थी जिसमें उनके लेन देन का हिसाब रहता था। किन्तु जो वही महीनो कीचड़ और पानी की होकर रह चुकी थी उसमें आदमी का हिसाब भी क्या मिलता। पैसा महँगू का किसने नहीं खाया था। लेकिन किसके पास क्या रह गया था जो महँगू किसी से अपना पैसा माँगते। रघुकुल शुकुल ने उन्हें बहुत समझाया कि क़रज़दारों को नोटिस देकर सबूत के लिये अदालत में बही जमा कर दो। पहले अदालत में जाना महँगू साहु अपनी इज्ज़त और मान के विपरीत समझते थे। उन्होंने अब धन और इज्ज़त न रहने पर रघुकुल शुकुल की बात पर जो मनन किया तो इस नतीजे पर पहुँचे कि वास्तव में वे अदालत से डरते थे। इसलिये यह सोच कर कि जो दावा किये बैठे थे उन्हें ही क्या कुछ मिला जाता था उन्होंने सन्तोप कर लिया। रघुकुल को उन्होंने यह समझाया कि अदालत के सामने बही की कीचड़ में सनी हुई ढेबरी की कालिख की लिखाई ठहर नहीं सकती थी।

परन्तु जहाँ महँगू की बही दूसरों के ख़िलाफ़ न चल सकी वहाँ दूसरों की बहियाँ महँगू के ख़िलाफ़ ख़ूब ही चलीं और ऐसी चलीं कि रहा सहा ज़मींदारी का हिस्सा भी बिक गया। राप्ती से लेकर सरजू के किनारे तक जिस जिस के रोकड़ में तीन हज़ार की हल्दी साढ़े चार हज़ार की मिर्च, सात हज़ार का नमक और नौ सौ निन्नानवे का गुड़ लिखा था वह सब सूद दरसूद जोड़ कर महँगू ने सूत सूत बेच कर अदा करना अपना धर्म समझा। आदमी रोज़गारी थे इसलिये सोचा—ज़बान और बात पर अड़े रहो, समय बदलेगा तो

यही एक का तीन देकर जायगा। महँगू जब शाम सबेरे बही सामने रख कर अपने धन तथा पूँजी का मीज़ान लगाते तो घड़ी, कम्बल और झोंपड़ी के अलावा, जिसमें अब वे रहते थे, दो ही चीज़ें और याद आती—बीस आने का तीतर और दाँत खोदने वाली उनके गले में लटकी खोदनी, जिसका दाम चाँदी का भाव गिर जाने से अब बीस पैसों से अधिक नहीं रह गया था। लेकिन अब भी जब हर साल दीवाली के दूसरे दिन प्रातःकाल गोबर से अन्दर का बरामदा लीप कर बही लेकर वे बैठते तब किसी सादे पन्ने पर रोकड़ के खाते में इन्हीं पाँच चीजों का इन्दराज कर लेते।

दीवाली से पहले दशहरा आता है और दशहरे के दिन सुबह को गाँव का चिड़ीमार अब भी महँगू को नीलकंठ दिखाने लाता था। इसलिये आज दोपहर तक चिड़ीमार की राह देखते रहे। लेकिन जब दिन बीत गया और चिड़ीमार नीलकंठ दिखाने नहीं आया तो सध्या आते आते महँगू बहुत उदास हो गये। जब दिन डूबने से पहले छप्पर के बांस में से तीतर का पिंजड़ा उतार रहे थे तो उन्होंने अनुभव किया कि जैसे कमर में सकत ही न रही। पिंजड़ा उतारते समय जाघें कांपने लगीं।

एक हाथ में पिजड़ा और दूसरे में सोटा लेकर जिस समय वे मकान से बाहर निकले तो सामने के पेड़ पर से एक नीलकंठ "कें कें" करता सीधा ज़मीन पर आया। महँगू साहु के पैर रुक गये। किन्तु नदी जाना था इसलिये उस अपशकुन के बावजूद भी गये। रास्ते भर यही सोचते रहे कि दशहरे के दिन साँझ बेला नीलकंठ ऊपर से उड़ कर नीचे क्यों आया। उसी समय खिड़रिच का हाथी के मस्तक की ऊँचाई से उड़ना भी याद आया।

दरिया के किनारे मल्लाहों के साथ दो चिलम गांजा पीकर जब वे बाबू साहब के हाथी का सैलाब में बहकर मरना बता रहे थे तो तीसरी चिलम का दम खींचते खींचते जैसे उनका दम छूट गया।

चेतना खोते खोते उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि जैसे दरिया के उस पार दरारे में से जो उल्लू उड़ा था उसकी आवाज़ उनके कानों में "खिड़रिच खिड़रिच" कह रही थी।

मल्लाहों की परेशानी देख कर कोट कमीज़ पहने हुए बाबू, जो उसी समय नाव से उतरे थे वहाँ आ गये। जिस समय वे महँगू साहु की नाड़ी देख रहे थे उनकी दृष्टि महँगू की घड़ी की चेन पर पड़ी। नाड़ी हल्की चल रही थी इसलिये महँगू की घड़ी हाथ में लेकर नाड़ी गिनने लगे। जब सेकंड की सुई चलती नहीं दिखाई दी तो उन्होंने घड़ी कान पर लगाई। मल्लाहों ने बताया कि घड़ी बोलती नहीं किन्तु समय ठीक बताती थी। जो घड़ी सैलाब ही के समय से बन्द थी उसकी घंटे वाली सुई को आठ पर देखते हुए बाबू ने कहा—"हाँ, इस वक्त तो समय ठीक बता रही है।" जब नाड़ी की ओर उन्होंने ध्यान दिया तो वह बन्द हो चुकी थी।

ज़िन्दगी

अपने जन्म और उसके पहले की घटनाओं से मैं उतना ही परिचित हूँ जितना आप, यानी बिल्कुल नहीं। बस कुछ सुनी सुनाई बातें हैं जिनका विश्वास इस कारण करना पड़ता है कि जन्म के अवसर पर इस देश में आमतौर से यही सब होता है। यह तो आप जानते ही हैं कि जिसके बेटा पैदा होता है उसके यहाँ ख़ुशी मनाई जाती है, सिवाय एक बिरादरी के जिसका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं। तो कहने का मतलब केवल यह कि मेरे घर में भी ख़ुशी मनाई गई—यानी थालियाँ बजीं, बन्दूक छुटी, गाना बजाना हुआ, इत्यादि इत्यादि।

बावजूद इस निरन्तर रोने के कि देश की आबादी भयंकर रूप से बढ़ रहा है जब बेटा होता है, अथवा जब बेटी नहीं होती, तो सभी ख़ुशियाँ मनाते हैं। चुनांचे मेरा जन्म भी मेरे घर वालों के लिये अत्यन्त सौभाग्य का अवसर था। यही नहीं बल्कि, आपकी सेवा में मैं यह भी निवेदन करना चाहूँगा कि मेरे जन्म से मेरे घर वालों को जितना हर्ष हुआ सम्भवतः उतना आपके जन्म से आपके घर वालों

को न प्राप्त हुआ होगा। इस कारण कि मुझसे पहले मेरे सात बहिनें पैदा हो चुकी थीं। अतएव जब मेरे पिता को लड़के की कोई आशा न रह गई तो विवश होकर उन्हें दूसरी शादी करनी पड़ी। परन्तु जब दूसरी स्त्री से भी लड़की ही पैदा हुई तो वे ज़िन्दगी से बिल्कुल निराश हो गये। बेटा बेटी में क्या अन्तर और वैसे सोचिये तो बहुत अन्तर है। कहने का मतलब यह कि दोनों भगवान की देन हैं, और उनकी इच्छा कौन बदल सकता है। फिर भी दुहाई विनती तो हो ही सकती है, वह माने या न माने। कुछ देवी देवता तो ऐसे भी हैं जिनकी कुछ हद तक सिफ़ारिश भी हो सकती है। इसलिये मेरे पिता ने भी तीरथ-बरत किये, साधू महात्माओं के दर्शन किये, उनके चरन छुए। और जब मैं पैदा हुआ तो दशहरे से एक दिन पहले चौदह काले बकरों की चौदह गर्दनें काटकर देवी दुर्गा की वेदी पर एक साथ गिरा दी गईं।

मेरी सवारी के लिये मेरे माता पिता ने जो गाड़ी ख़रीदी थी, जिसे आप अपनी बोलचाल में "प्रैम" कहते हैं, उस पर जाड़े के मौसम में शाम के वक्त बैठा-बैठा जब मैं शकरक़न्द खाता था तो माँ की केवल एक याद आती थी—जब उन की अर्थी घर के बाहर निकाली जा रही थी तो मैं ज़मीन पर बैठा भुने हुए चने खा रहा था। पिता जी मालूम नहीं कब मरे। माँ का मरना भी भुने हुए चने खाते समय तो मालूम हुआ नहीं था। परन्तु जब मेरा छोटा भाई मेरी गाड़ी पर चढ़ने और मैं नीचे उतर कर ज़मीन पर चलने लगा था तब यह मालूम हुआ कि माता-पिता दोनों मुझे बिना बताये हुए इस दुनियाँ से चल बसे थे। तात्पर्य यह कि सर मुड़े थे कि ओले पड़े। जमींदारी पर दूसरों ने क़ब्ज़ा जमा लिया था। घर में जो था वह चोर उठा ले गये। कायस्थ बैंक का सारा रुपया चूंकि दूरदर्शी कायस्थों ने एक ही दिन निकाल लिया इसलिये न बेचारा कायस्थ बैंक रहा और न मेरे

नाम का रुपया। पढ़ाई मेरी 'करीमा' से शुरू हुई। मोलवी साहब, जिनकी पढ़ाई स्वयं एक्का हाँकने से आरम्भ हुई थी, जब 'मामक़ीमा,' मुझे पढ़ा रहे थे तो बड़े ज़ोर का प्लेग गाँव में आया। इसलिये अंगरेज़ी पढ़ाने के बहाने हम दोनों भाई पकड़ कर शहर भेज दिये गये। हम लोगों के शहर चले जाने के पश्चात् मोलवी साहब फिर एक्का हाँकने लगे और वे आज भी एक्का हाँकते और अफ़ीम खाते हैं।

आप कहेंगे कि जो जीवन इस तरह आरम्भ हुआ हो उससे अधिक आशा भी क्या की जा सकती है। परन्तु आप का ऐसा सोचना ग़लत होगा इसलिये कि मेरी समझ में जीवन आशा का भिखारी नहीं होता, जीवन स्वयं आशा है। जब आशा नहीं रह जाती तो मनुष्य आत्महत्या कर लेता है। आत्महत्या करने वाले को दुनियाँ पागल कहती है। परन्तु मैं कोई पागल थोड़े ही हो गया था। इसलिये चाहे आप मेरा विश्वास न करें मैं यह कहना चाहूँगा कि मेरे जीने का क्रम, जो इस तरह बंध गया था, माता-पिता के मृत्यु के बावजूद भी वैसे ही बेरोक चलता रहा। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि मेरी ज़िन्दगी का सिलसिला लगभग वैसे ही चलता रहा जैसे शायद पहले चलता। यदि कोई अन्तर था तो बस इतना कि पहले शायद जूते पहन कर स्कूल जाता तो अब नंगे पैर जाता था। कभी-कभी मिट्टी का तेल न होने से सन्ध्या समय लालटेन भी न जलती थी। किन्तु मैं कोई रामानुजन थोड़े ही था जो म्युनिसिपल लैम्प के नीचे बैठकर हिसाब लगाता।

पढ़ते रहे, पास होते रहे, .फेल भी होते थे। पास होने की .खुशी होती, .फेल होने का अफ़सोस होता। किन्तु आज कुछ ऐसा सोचता हूँ कि यदि और .फेल हुआ होता या सदैव .फेल ही होता रहता तो आज जीवन की परीक्षा में कम पास होने का सम्भवतः अधिक खेद न होता। बहरहाल पढ़ते थे, लिखते थे, नहीं भी पढ़ते

लिखते थे। दोनों में कुछ अधिक अन्तर भी मालूम न होता था। कहावत है—'दिन भर भीख माँगिये तब भी दिया भर, न माँगिये तब भी दिया भर'। कुछ इसी प्रकार का अपना पढ़ना लिखना था और लगभग ऐसी ही मेरी ज़िन्दगी भी थी। किन्तु असली ज़िन्दगी तो वह थी जो रात को चारपाई पर पड़ जाने के बाद शुरू होती थी। बिस्तर पर पड़ा हुआ हूँ, आँखें बन्द हैं, लेकिन नींद नहीं आती है। बहुत बड़ा मैच हो रहा है। कभी हॉकी का है, कभी फुटबाल का। मैं हूँ कि गेंद लिये भागा ही जा रहा हूँ। तालियाँ बज रही हैं—हज़ारों लाखों तालियाँ। मारा धड़ाक से—गोल हो गया। सीटी बज गई। खेल के मैदान के किनारे-किनारे सैकड़ों टोपियाँ, जूते, छाते और डंडे उछलने लगे। लड़कों ने दौड़ कर मुझे कन्धों पर उठा लिया। दूसरी 'बुली' होते-होते मैं सो गया।

तारों से लज्जित होकर मैं रुका नहीं। सूर्य को देख कर डरा नहीं। बादलों की गरज से मैं घबराया नहीं। आकाश को देख कर मेरे हौसले पस्त नहीं हुए। अपने जीवन-पथ पर चलता ही जाता था। मैं था और मेरी ज़िन्दगी थी। अपनी मानसिक दुनियाँ में कभी पंडित जवाहरलाल नेहरू की तरह हज़ारों लाखों मर्दों औरतों को इकट्ठा कर के व्याख्यान देता तो कभी ध्यानचन्द की तरह हाकी खेलता। जो और आगे बढ़ा तो उम्र ही का वह भी तक़ाज़ा था जो कहीं किसी सुनसान में अकेले चुपचाप बैठ कर किसी की प्रतिमा को प्यार करने लगा। चुपके-चुपके मौन बातें होतीं। शहर से दूर जाकर, पार्क में वृक्षों से अपना भेद कहता, चिड़ियों के गाने सुनता। बैठे-बैठे तिनके तोड़ता और उन्हें जोड़ता। किसी की कल्पना में फिर वहाँ से चल देता। पग सदैव घर ही की ओर उठते। अँधेरी शून्य सड़कों पर जब डर लगता तो 'गायत्री मन्त्र' पढ़ने लगता और इस तरह चलता-चलता घर चला आता।

पढ़ने का शौक़ तो 'सेकंड डिवीज़न' में दसवाँ दर्जा पास करके

हुआ। और फिर 'सेकंड डिवीज़न' से ऐसी मोहब्बत हो गई कि 'फ़र्स्ट डिवीज़न' को कभी भूल के भी न सोचा। उसके बाद पढ़ना लिखना क्या हो गया कि जैसे सीढ़ी का चढ़ना था। एक सीढ़ी पर चढ़कर दूसरी के लिये पैर आप से आप उठ जाते। उन सीढ़ियों का सिलसिला आज भी समाप्त न हुआ और ग़ज़ब तो यह कि आज आप से यह भी नहीं बता सकता कि इस समय वास्तव में हूँ किस सीढ़ी पर।

कहने का तात्पर्य यह कि बेढंगे जीवन का क्रम जिस तरह आरम्भ हुआ था उसी बेढंगे तरीक़े से चलता रहा। उसके बाद एक एक करके वह सब कुछ हुआ जो दुनियाँ में होता है। यानी शादी हुई, इसलिये कि वह होती है। शादी के पश्चात् वह सब हुआ जो शादी होने के बाद होता है। बीबी पाकर ख़ुश हुआ, बहुत ख़ुश हुआ। नाख़ुश भी हुआ और बहुत नाख़ुश हुआ। यदि आप यह पूछें कि अब कैसे हैं तो उत्तर दूँगा—बस योंही हूँ, यानी न सन्तुष्ट हूँ और न असन्तुष्ट। अधिक कह भी नहीं सकता इसलिये कि बीबी का डर है। इसमें बीबी का भी क्या दोष। विवाह से सदैव सन्तुष्ट अथवा प्रसन्न रहने वाले को मैं बिल्कुल ईमानदार आदमी मानने को तैय्यार भी तो नहीं और यदि आदमी ईमानदार है तो फिर उसमें अवश्य हास्य-रस की कुछ कमी है। जिस भाँति मैं अपनी शेरवानी अथवा क़लम से सदैव प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं रह सकता उसी भाँति अपनी बीबी से भी सदैव ख़ुश या नाख़ुश नहीं रह सकता। यही नहीं, बल्कि मेरी कठिनाई तो यह भी है कि मैं स्वयं अपने से भी सदैव प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं रहता। याने कभी अपना रूप शीशे में देख कर इतनी सान्त्वना होती है कि बस मुस्करा देता हूँ। कभी उसी शीशे में अपने को देख कर क्रोध होता है—नाक को आख़िर यहीं क्यों होना था? न तनिक इधर न उधर।

मैं कह यह रहा था कि शादी हुई। शादी के बाद नौकरी मिली,

इसलिये कि उस समय मिलती थी। शादी के बाद चूंकि बच्चे होते हैं इसलिये वे भी हुए। लेकिन—लेकिन का यह मतलब नहीं कि बच्चे बुरे हुए। मगर सवाल यह है कि यदि अच्छे भी होते तो क्या कर लेते। आख़िर मैंने क्या कर लिया जो ये कुछ कर लेते। फिर मैं हुआ ही कौन जो इन्हें इस तरह नापूं तौलूं। ये पढ़ेंगे लिखेंगे या नहीं पढ़ेंगे लिखेंगे। बहरहाल किसी न किसी दशा में जियेंगे और जियेंगे भी अपने लिये, जिस तरह मैं अपने लिये जी रहा हूँ। दूसरों के लिये ये जियें भी क्यों? अगर 'घर को आग लग न गई घर के चिराग़ से' तो बड़ी बात होगी।

ख़ैर छोड़िये इस निरर्थक बकवास को। मैं हाल की अपनी एक आप बीती सुनाऊँ।

प्रातःकाल का समय था। अख़बार पढ़ चुकने के बाद चाय पी। फिर सोचा कुछ काम कर लूँ। कुछ किया भी, किन्तु अधिक जी न लगा। इसलिये तय किया कहीं घूम आऊँ। टहलता टहलता अपने दोस्त मिस्त्री साहब के यहाँ पहुँचा। चूँकि उन दिनों उनकी बीबी मायके गई थीं इसलिये बेधड़क अन्दर चला गया। आँगन में उनका नौकर मिला। उससे मालूम हुआ कि मिस्त्री साहब भंडारे में हैं। सुन कर आश्चर्य हुआ। लेकिन अपने दोस्त के जीवन से परिचित था इसलिये सोचा चलूँ देखूँ आख़िर हज़रत भंडारे में बैठे क्या कर रहे हैं? अन्दर गया तो देखा मिस्त्री साहब बोरियों और मटकों के बीच एक कोने में बैठे कुछ व्यस्त से हैं। देखने से ऐसे लगे जैसे आटे की किसी बोरी मे घुसे हुए थे। मुझे देखकर बदन पर से आटा झाड़ने लगे। पूछा—"कहो भाई, ख़ैरियत तो है?" बोले—"कुछ नहीं, इतवार का दिन था। सोचा देख लूँ अनाज इत्यादि क्या ख़र्च हो गया है क्या रह गया है।" एक बोरी पर सेर तराज़ू रक्खे थे। उन्हें नीचे रख कर मैं उसी बोरी पर बैठ गया।

बाहर से आने के कारण आँखों में जो चकाचौंध थी अब समाप्त हो गई थी। इसलिये अँधेरी कोठरी की चीज़ें साफ़-साफ़ दिखाई देने लगीं। उनके हाथ में इंच की पटरी देखकर पूछा—"इससे क्या कर रहे हो भाई ?" डाल्डा के दस पौंड वाले टिन में पटरी डालते हुए बोले—"देख रहा हूँ कड़ुवा तेल कितना रह गया है।" यह कह कर वे कड़ुवा तेल इंच वाली पटरी से नापने लगे।

मेरी नज़र कोठरी की दीवार पर लटकी हुई और चीज़ों की ओर गई। चारों तरफ़ थैलियाँ ही थैलियाँ लटक रही थीं। किसी थैली पर हल्दी, किसी पर मिर्च, किसी पर नमक तो किसी पर धनिया। गरज़ कि हर थैली पर कुछ न कुछ लिखा हुआ था। पूछने पर मालूम हुआ कि जब जिस चीज़ की ज़रूरत होती है थैली में से वह चीज़ निकाल ली जाती है और उसका दाम जोड़ कर उसी समय थैली में डाल दिया जाता है। इस तरह जब थैली की चीज़ ख़तम होती है तो उस समय तक उस चीज़ की पूरी क़ीमत थैली में इकट्ठा हो जाती है। फिर उस क़ीमत से वह चीज़ उतनी ही बिना किसी झंझट के बाज़ार से मँगवा ली जाती है।

उस प्रबन्ध और व्यवस्था को देखकर मैं तो हक्का बक्का रह गया और इतना परेशान हुआ कि कुछ क्षण बातचीत करके फिर उल्टे पाँव वहाँ से घर ही लौटा। किन्तु दिन इस तरह ख़राब हुआ था कि अब न कुछ करते बने और न सोचते। मिस्त्री साहब को सोचकर बार-बार यही ख़्याल आये कि आख़िर इस आदमी ने भी ज़िन्दगी को किस हौसले और इतमिनान से नाप तौल लिया है, गज़, फुट, इंच और रुपया, आना, पाई से। चुनांचे सारा दिन ज़िन्दगी और उसकी सफलता तथा असफलता ही के विषय में सोचता रहा। कुछ समझ में न आये कि यह दुनियाँ भी क्या तमाशा है। इसमें क्या सत्य और क्या असत्य है। क्या होना और क्या न होना चाहिए। दिन था धनतेरस का, यानी दीवाली से पहले वाली

शाम, जब हिन्दू बर्तन ख़रीदते हैं। इस विचार से कि यदि उस दिन बर्तन ख़रीदेंगे तो बाक़ी साल घर में ऐसी सम्पन्नता रहेगी कि तीन सौ चौसठ दिन फिर बर्तन ही ख़रीदते बीतेंगे। अर्थात् जब लक्ष्मी इस तरह घर में आ जायँगी तो साल भर घर से बाहर न जा सकेंगी। यद्यपि मैंने कभी इस तरह अपने घर में लक्ष्मी का प्रवेश नहीं कराया था किन्तु मिस्त्री साहब के जीवन को दिन भर सोचते-सोचते मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि शाम को बाज़ार जाने को मैं भी तैय्यार हो गया। जब बीवी से बर्तन ख़रीदने के लिये रुपया माँगा तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ।

रुपया लेकर घर से बाहर निकला था कि बाहर के दरवाज़े से कुछ गुन-गुनाते हुए मुन्ने साहब दाख़िल हुए। मैंने सोचा लक्ष्मी को लाने चले थे हाथ ये लगे। अन्दर आकर गांधी टोपी सर से उतार कर उन्होंने कुर्सी पर एक तरफ़ फेंकी, शेरवानी उतार कर दूसरी तरफ़। फिर मेरे सामने खड़े होकर जैसे मुझे चिढ़ाने के लिये ज़ोर-ज़ोर से गाने लगे।

लाई हयात आये, क़ज़ा ले चली चले।
अपनी ख़ुशी न आये, न अपनी ख़ुशी चले॥

चूंकि गन्ध काफ़ी आ रही थी इसलिये मैंने सोचा—मेरा यार आज दोपहर ही से एक-आध 'पेग' झाड़े हुए है। नौकर को बुलाकर फिर उन्होंने पाँच रुपये दिये और ताकीद की—"अद्धा लाना!"

धनतेरस को बर्तन ख़रीदने का हौसला इस तरह किरकिरा हुआ था इसलिये मैं भी बैठ गया। लेकिन इस दरमियान में मेरा दिन भर की उलझन एक स्थायी मानसिक कुढ़न का रूप ग्रहण कर चुकी थी। इसलिये मैंने कुछ चिढ़ कर पूछा—"कहो आज दिन दहाड़े किसी की जेब काट लाये क्या?"

मुन्ने साहब बोले—"दोस्त तुमने भी ज़िन्दगी को पहचाना नहीं।" फिर गाने लगे—

ज़िन्दगी मज़ाक़ है,
मज़ाक़ को निभाये जा।

मैंने कहा—"सो तो है। लेकिन मैं तुमसे यह जानना चाहता हूँ कि आख़िर तुम्हारी ज़िन्दगी क्या है जो तुम इस तरह लोगों के पैसे मारते फिरते हो? कल तुमने मिस्त्री बेचारे का नाम बताकर उसके दोस्त के दस रुपये मार दिये। मुझे कई बार मुसीबत में डाल चुके हो। आख़िर कब तक इस तरह जिओगे? कब तक तुम सोचते हो तुम्हारे इस 'साहित्यिक' जीवन का बोझ तुम्हारे दोस्त उठाये रहेंगे?"

मुन्ने बोले—"यार बैठने भी दोगे या लेक्चर ही झाड़ते जावोगे। अगर मेरा आना अच्छा न लगा हो तो कहो मैं चला जाऊँ?"

टहल-टहल कर गाने लगा—

कोई जिला रहा है,
जिये जा रहा हूँ मैं।

इस तरह कुछ देर गाता रहा। मैं भी चुप रहा।

जब मुन्ने ठंढा पड़ा तो मैंने कहा—"भाई मुन्ने, यदि कुछ देर अपनी शायरी बन्द करके सुनो तो कहूँ?"

एक दम जैसे उछल पड़ा—"कहो भाई, ज़रूर कहो। मै तो चाहता हूँ कि तुम कुछ बोलो। लेकिन कहने के पहले मेरी सुन लो। तुम शायद यही कहोगे कि मैं भी तुम्हारी तरह शादी क्यों नहीं कर लेता और घर क्यों नहीं बसा लेता। फिर मेरी बीबी भी मुझे सुबह शाम टमाटर खाने को दे और मैं इस वजह से खाऊँ कि टमाटर खाने से फ़ायदा होता है। इसके बाद तुम्हारी तरह दूसरों को बेमानी लेक्चर पिलाता फिरूँ, बेमतलब किताबें लिखूँ, पैसा कमाऊँ और इस तरह, तुम्हारी राय में, जीवन सफल बनाऊँ। लेकिन यार मैं अपने को और अपने साथ दूसरों को इस तरह धोखा देकर जीना नहीं चाहता। मैं केवल जीना चाहता हूँ। यानी ज़िन्दगी कामयाब बनाना नहीं चाहता।

ज़िन्दगी मुझे बिल्कुल मटियामेट मिली थी और इसे मैं मटियामेट ही छोड़ना चाहता हूँ। दोस्त ! ज़िन्दगी कामयाब या नाकामयाब नहीं होती। ज़िन्दगी सिर्फ़ ज़िन्दगी होती है। ज़िन्दगी को गज़, फुट और इंच से नहीं नापा जाता। ज़िन्दगी केवल थर्मामीटर है। इसे १०२° बुख़ार नाप कर इतनी ही ख़ुशी या अफ़सोस होता है जितना १०७° नाप कर। मेरी बात याद रक्खो। अगर तुमने भूल कर भी ज़िन्दगी को किसी पैमाने से नापा तो ज़िन्दगी के हाथों बुरी तरह मात खाओगे।"

इस तरह मालूम नहीं कब तक मुन्ने बकता रहा और मैं सुनता अथवा न सुनता रहा। इतना याद है कि नौकर अध्धा लाया। मुन्ने अध्धा लेकर चला गया। मैंने उसे जाने से रोका भी नहीं············

मालूम नहीं कब तक मैं बैठा सोचता रहा। बाहर से किसी ने पुकारा। मैं चौंका। जब तक उसेमैं अन्दर आने को कहता वह मेरे सामने आकर खड़ा हो गया था। गेरुआ वस्त्र पहने, दाढ़ी बढ़ाये, झोली माला लटकाये, पंजाबी आदमी कुर्सी पर मेरे बग़ल में बैठ गया। पूछने पर मालूम हुआ कि महात्मा जी हाथ देखते हैं। मेरे दोस्त मिस्त्री साहब ने उन्हें मेरे यहाँ भेजा था। इसलिये बिना अधिक सोचे समझे मैंने हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया। महात्मा जी मेरी हथेली अपने हाथ में लेकर ध्यान-पूर्वक कुछ देर देखते रहे। फिर बोले—"बच्चा यह लाइफ़ लाइन है।

मैंने कहा—"जी।"

"और यह हेडलाइन है।"

मैंने कहा—"जी।"

"और यह हार्ट लाइन है"

मैंने कहा—"जी।"

"बेटा, तेरी सब लाइनें अच्छी हैं। तुझको बड़ी अच्छी नौकरी मिलेगी। शादी भी अच्छी होगी। बच्चे जो होंगे बड़े भाग्यवान् होंगे।

धन बहुत आयेगा और ख़र्च भी होगा। तू एक मकान भी बनवायेगा। तेरे लड़कों की शादियाँ अच्छी होंगी—"

मैंने पूछा—"मेरे मरने का कोई ख़तरा तो नहीं है, महराज ?"

बाबाजी चौंके, लेकिन फिर सँभल कर बोले—"नहीं बच्चा, ऐसी बात नहीं।" और फिर वह मालूम नहीं क्या-क्या बकते रहे। मैं सोच रहा था—यही तो ज़िन्दगी है। इसी को ज़िन्दगी कहते भी हैं। बाबा जी भी अपनी ज़िन्दगी कामयाब बना रहे थे। मैंने अन्दर से एक रुपया मँगाया और उसे बाबा जी की हथेली पर रख दिया। इस तरह मेरी हथेली की जान छूटी।

बाबा जी उठकर चले गये। मैं मुन्ने की बातें सोचता रहा और परेशान होता रहा—ज़िन्दगी जो देती है वह हमसे लेती भी है। लेकिन ज़िन्दगी की शराब हमेशा एक ही पैमाने से नहीं बँटती। पैमाने अक्सर बदलते रहते हैं। शराब की लज़्ज़त भी बदलती रहती है। कभी शराब बदल जाती है और कभी हम ख़ुद ही बदले रहते हैं। लेकिन अगर ज़िन्दगी के हाथों मात खाना नहीं चाहते तो ज़िन्दगी जो कुछ तुमसे लेती है उसे खोना मत समझो और ज़िन्दगी से जो तुम्हें मिलता है उसे पाना मत समझो। अगर तुमने भूल कर भी ऐसा किया तो ज़िन्दगी के हाथों बुरे बिकोगे। टमाटर ज़रूर खाओ। लेकिन इसलिये नहीं कि उससे तुम्हारी ज़िन्दगी बढ़ जायेगी। बल्कि टमाटर इसलिये खाओ कि उसका रंग तुम्हें पसन्द है। मगर यह याद रक्खो कि यदि तुम टमाटर उसके रंग की वजह से खाओगे तो तुम्हारी बीबी तुम्हारे खाने के लिये सुबह शाम टमाटर कदापि नहीं लायेगी.........

सम्भवतः ज़िन्दगी मुझे परख रही है। आज मैं रूईदार बन्द गले का कोट और रूईदार तंग मोहरी का पायजामा पहन कर, रूईदार कन्टोप की दोनों घुंडियों को गले के नीचे बाँध कर सुनता हूँ तब भी वह धड़ाका सुनाई पड़ता है। उस धड़ाके से डर लगता है, मैं सहम-सहम जाता हूँ। शायद यह वही धड़ाका है जो मेरे जन्म के

पश्चात् बन्दूक दागने से हुआ था। ख़ुशी के अवसर पर बन्दूक का झूठा फ़ायर शायद इस वजह से किया गया था कि उस धड़ाके को सुनकर मैं ज़िन्दगी में किसी और आवाज़ से न डरूँगा। लेकिन आज अगर डर लगता है तो उसी धड़ाके से यानी उसी झूठे फायर से जो शायद मेरी ज़िन्दगी है।

खोज

जीवन के एक बीस और सात वर्ष बिता कर बिहारी एक ऐसी चीज़ की खोज में आज निकला था जिसे पाकर उसकी आत्मा पुकार उठती—अब जीवन से शिकायत नहीं। किन्तु जीवन के यही एक बीस और सात वर्ष उसकी जवानी के दिन भी थे। इसलिये बिहारी यह नहीं कह सकता था कि इस प्रकार के अनुभवों से वह ऐसा कुछ अपरिचित था। इसके विपरीत, इससे पहले जब जब उसमें कामुकता की ज्वाला भड़क उठी थी तब तब उसने किसी न किसी आग से खेलकर उन लपटों को बुझाया था। काम की प्यास बुझती भी कहाँ है। इस प्यास को बुझाने के लिये आदमी को उस मृग-तृष्णा का पीछा करना पड़ता है जो उसे कभी मिलती नहीं। अक्सर उस मृग-तृष्णा का पीछा करने ही में प्यास बुझ जाती है। वैसे प्यास पूर्ण रूप से कभी नहीं बुझती। कभी तो आदमी थक कर अथवा अपनी चाह से हार मानकर ऐसा अनुभव करने लगता है कि जैसे वह प्यास बुझ गई हो।

संयोगवश आज अपने को ऐसे शहर में पाकर, जहाँ पह-चाने जाने या किसी की आंखों का पीछा किये जाने का डर न हो

सकता था, बिहारी के अन्दर एक अजीब चाह पैदा हुई जिसे वह आन्तरिक अथवा बाहरी किसी भी भय से दबा न सका। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव ही आदमी का मन फेर देता है। आज जब बिहारी ने अपने को स्वतन्त्र पाया तो इस अनुभव ही ने उसे उस स्वतन्त्रता से फायदा उठाने के लिये विवश कर दिया। उसने सोचा —आज तक जब भी कभी ऐसा अवसर आया तो उस अवसर और उस अनुभव का सदैव कोई न कोई कारण था। अर्थात् या तो किसी ने उसको प्रेम करने पर मजबूर किया था अथवा किसी की सुन्दरता से खिंच कर उसको उस संकट में अपने को डालना पड़ा था।

परन्तु आज ऐसा अवसर हाथ आया था जब कि वह बिना किसी डर अथवा संकोच के स्वतन्त्र होकर, अपनी भावुकता के अनुसार, कोई ऐसी वस्तु पसन्द करके चुन सकता था जो हूबहू वैसी ही होती जैसी उसकी आत्मा न जाने कब से खोज रही थी। यानी आमतौर से जिन से उसने आज तक प्रेम किया था उनमें से किसी की आँखें अच्छी थीं तो किसी का रूप अच्छा था। लेकिन जिसका रंग साफ़ था उसके लिये ज़रूरी न था कि उसका दिल भी साफ़ होता। या जिसके होठ अच्छे थे उसकी नाक भी सुन्दर होती। जो जैसी मिली उसको वैसा उसने प्यार किया था। प्रेम करने के लिये आख़िर वह किसी को गढ़ तो सकता नहीं था। लेकिन जब उसकी जेब में पैसे थे तो बिहारी का मन, अपने को उस सुन्दरता के बाज़ार में पाकर, सोच रहा था कि आज अपनी पसन्द के लिये वह किसी को गढ़ भी सकता है। ऐसी परिस्थिति में बिहारी अपनी विलासता के उड़ते हुये स्वतन्त्र सपनों के पंख कहीं से बाँधना नहीं चाहता था।

उस भरे बाज़ार में जिस ढंग से बिहारी पग उठा कर चल रहा था उस को देखकर कोई भी कह सकता था कि वह कोई अनजान परदेसी था। तंग सड़क के किनारे किनारे दूकानें सजी हुई थीं। छोटी

छोटी दूकानें छोटी छोटी बिकने वाली चीज़ों से भरी पड़ी थीं। ख़रीदार चीज़ें ख़रीदते और आगे गुज़र जाते। दोनों तरफ़ दूकानों के ऊपर कोठे थे। कोठों के छज्जों पर कहीं से किसी की नाक की कील झलक उठती तो किसी की साड़ी के किनारे का नक़ली गोटा आँखें चकाचौंध कर देता। जितनी रोशनी नीचे दूकानों पर थी उतनी दूकानों के ऊपर कोठों पर न थी। कोठों की अंधेरी दुनियाँ में केवल इतना प्रकाश था कि नाक में कील और गोटेदार साड़ी पहनने वालों की शक्लें दिखाई दे सकतीं। शक्लें देखने वाले भी बस इतना ही देख सकते थे कि यह तय कर सकते कि किस कोठे की अंधेरी सीढ़ी को टटोलते हुये ऊपर जायँ। अगर कोठों पर चढ़कर नाकों की कीलों के जड़ाऊ पत्थर और साड़ी के गोटे नक़ली अथवा मृग-तृष्णा साबित होते तो यह उस धुंधली रोशनी का दोष न था जो रास्ता दिखाकर लोगों को ऊपर ले जाती थी। बल्कि वह तो उस कोठे की दुनियाँ ही का दोष होता जो स्वयं मृग-तृष्णा होती है।

आख़िर उस तरह वह टहलता भी कब तक रहता। अनजान किसी कोठे पर चढ़ भी कैसे जाता। सितारे तो दूर से सभी चमकते हैं। अतएव जब बिहारी कुछ न तय कर सका और इस प्रकार लगभग तीन सौ गज़ तंग सड़क, इस ओर से उस ओर और उस ओर से इस ओर, नापते नापते थकने लगा तो जैसे दिमाग़ को टेक देने के लिये पान की दूकान पर ठहर कर पान ख़रीदने लगा। पान ख़रीद रहा था और सोच रहा था। इतने में कोठे के छज्जे पर से जैसे किसी की रेशमी साड़ी का आंचल नीचे की ओर झपटा। आंचल के साथ बिहारी की दृष्टि कोठे पर गई। साड़ी का अञ्चल कंधे पर चुनते हुये कोई बलेसर पर से मुस्करा रहा था।

इतना संकेत पाकर कोई भी कोठे पर क्यों न चढ़ जाता। पह-चानने वालों के लिये आदमियों के इरादे उनके चेहरों पर अंकित होते हैं। मुसलमान पानवाले ने अदब और लेहाज़ से पान देते हुये

दूकान की दाहिनी तरफ़ वाली अंधेरी गली की ओर संकेत करके कहा—"सीढ़ी आगे मिलेगी।"

अब सोचने समझने का मौक़ा कहाँ था। जो कुछ सोचना समझना था वह तो बिहारी घर ही से सोच कर आया था। अतः जब वह आधी सीढ़ी तय कर पाया था तो उसने देखा कि दियासलाई की बत्ती जलाकर ऊपर से कोई उसकी राह प्रकाशित कर रहा है। दियासलाई की रोशनी से पतला ऊबड़-खाबड़ सीढ़ी का रास्ता बिहारी के लिये प्रकाशित होता भी क्या। फिर भी दियासलाई की एक बत्ती जो काम कर सकती थी उसने किया। यानी उस रोशनी से रास्ता दिखाने वाले की कलाई से लेकर मुँह और नाक के नीचे के हिस्से एक क्षण के लिये प्रकाशित हो गये। अपना लक्ष्य इतना समीप देखकर बिहारी कोठे पर क्या पहाड़ पर चढ़ जाता। लेकिन जब वह सीढ़ियों से होकर दाहिनी ओर मुड़ा तो उसने अपने को एक बरामदे में पाया, जो बग़ल के कमरे के प्रकाश की भीख मांग रहा था। बरामदे में ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ रहा था उसके सामने जैसे एक सुन्दर मूर्ति पीछे हटती जाती थी। बिहारी उस चलती हुई तस्वीर का पीछा करता हुआ आगे बढ़ जाता यदि उसी समय उसकी नज़र उस आदमी पर न पड़ती जो बग़ल के प्रकाशित कमरे में एक किनारे बैठा था। कुर्सी पर आदमी को उस दशा में देखकर बिहारी के तो होश ही उड़ गए। वह कमरे के एक कोने में, जहाँ रोशनी नहीं के बराबर थी, कुर्सी पर नंगे बदन अपने सारे कपड़े लत्ते अपनी जांघों पर समेटे बैठा था। कुर्सी के पास दीवार के सहारे बेंत की पतली छड़ी खड़ी थी, जिसकी मुठिया चाँदी की तरह चमक रही थी। बिहारी ने फ़ौजी की वर्दी उसकी गोद में देखकर सोचा कि सिपाही पञ्जाबी रंगरूट है। लेकिन जब उसने देखा कि सिपाही अफ़सरों जैसी टोपी भी सर पर पहने है तो तुरंत उसे अपने ख़्याल को काटना पड़ा। इससे भी अधिक परेशानी

बिहारी को जिस विचार से हो रही थी वह यह था कि सिपाही जीवित था या बिना जान के कुर्सी पर काठ के खिलौने की तरह बैठा था।

एक आन्तरिक भय तथा मानसिक असमंजस उस समय बिहारी को न वहाँ से आगे बढ़ने और न पीछे हटने देता था। उसी समय जब उसके नेत्र उस सुन्दर लड़की की तरफ गये तो उसने देखा कि उंगली से संकेत कर के वह उसे अपनी ओर बुला रही थी। बिहारी ऐसी जगह आकर फंसा था कि यदि अब उस लड़की के इशारों पर न चलता तो और क्या करता।

उसके पीछे पीछे बग़ल के कमरे में गया। लड़की ने उसे एक कुर्सी की ओर संकेत करके बैठने को कहा और स्वयं मूंज और सरकंडे के मोढ़े पर बैठ गई। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात लम्बी गोरी बाहों पर से फिसलती हुई सिल्क की साड़ी को चुन कर कन्धे पर ठीक करते हुये सुन्दरी ने पञ्जाबी ढंग से पूछा—"कितनी देर रहियेगा?"

बिहारी जिस उलझन में पड़ा था उसे वही समझ सकता था। यह प्रश्न सुनते ही वह उठ खड़ा हुआ। किन्तु खड़ा होना था कि दीवार के ऊपर बग़ल के कमरे में खूंटी पर लटका हुआ उसे ओवरकोट दिखाई दिया जिसके कंधे पर पीतल का बना हुआ बादशाह सलामत का ताज चमक रहा था। पञ्जाबी युवती ने तुरन्त कहा—"नहीं, नहीं, बैठिये आप। मेरा मतलब था कि कितनी देर रहेंगे आप, रात भर या—?"

बिहारी कुर्सी पर बैठ गया। परन्तु अब उसकी समझ में न आए कि वह क्या कहे और क्या न करे। बग़ल के कमरे के नंगे सिपाही का भय मारे डालता था। पञ्जाबी युवती का व्यवसायी प्रश्न उसे मवेशियों का सौदागर अलग बनाए दे रहा था। मकान की निस्तब्धता कोने कोने से 'हत्या' पुकार रही थी। लेकिन वहाँ से भागना भी

तो आसान न था। इसलिये बिहारी ने होश हवास दुरुस्त करके समझ से काम लेना चाहा—"आपको मेरे साथ बाहर चलना है।"

जब उसने देखा कि उस सवाल का भी कोई प्रभाव गोरी चट्टी लड़की पर न हुआ तो उस ने समझा कि परिस्थिति ज़रूरत से ज़्यादा ख़तरनाक है।

लेकिन जब वहाँ से निकलने की सोच रहा था तो उसी समय सिपाही अपना सारा सामान और छड़ी लिये उठ खड़ा हुआ और कमरे के बाहर आया। लड़की ने अवसर पाकर बिहारी के समीप जाकर धीरे से कहा—"मैं बाहर नही जा सकती। अगर आप चाहें तो यहीं थोड़ी देर—"फिर उसने बाहर सिपाही को झाँककर और धीरे स्वर से कहा—"अभी यह—" सिपाही कमरे के बाहर थूककर उसी समय अन्दर लौटा। उसके फ़ौजी जूते की आवाज़ में पञ्जाबी लड़की का धीमा स्वर खो गया। कमरे में आकर सिपाही अपना बेंत दरवाज़े पर मारने लगा। बिहारी ने डरते डरते सोचा—'अब भी भाग निकलो यहाँ से वरना ख़ैरियत नहीं है।'

जिस समय बिहारी वहाँ से चला लड़की ने उससे धीरे से कहा—"फिर आइयेगा पाँच—" पूरा वाक्य बिहारी न सुन सका और न शायद लड़की ने कहा ही। जिस समय वह सिपाही के सामने से गुज़र रहा था फ़ौजी, कीलदार भारी बूट जूते पहने-अपनी वर्दी इत्यादि गोद में समेटे, बेंत जूते पर फटफटाता हुआ, कमरे में टहल रहा था। जब तेज़ी से बिहारी अंधेरी सीढ़ियों पर से संभलता हुआ उतर रहा था तो सोच रहा था कि यदि सिपाही वर्दी और कपड़े अपने पास न लिये रहता तो आख़िर सिपाही कैसे कहलाता। बिहारी जब गली से बाहर निकल कर फिर सड़क पर चलने लगा तो वह यह विश्वास न कर सकता था कि वास्तव में वह सीढ़ी पर से उतर कर नीचे आया था या सीधे कोठे पर से कूद पड़ा था।

रास्ता चलते समय यदि ठेस लग जाय तो आगे जाने का उद्देश्य

छोड़ कर वापस कम ही लौटते हैं। अतएव यह न जानते हुये भी कि अब क्या करे बिहारी उसी सड़क और उसकी दाईं बाईं रोशनी और बिना रोशनी की गलियों में मारा फिरा।

उसी समय चौराहे के नज़दीक उसे भीड़ दिखाई दी। निकट पहुँच कर बिहारी ने देखा कि भीड़ बढ़ती जा रही है। बीच चौराहे पर हो क्या रहा था वह दूर से क्या जान सकता। अतएव और नज़दीक जाकर अपनी ऊँचाई से फ़ायदा उठाते हुये उसने एंड़ी उठा कर देखा। आश्चर्य से मस्तिष्क चक्कर खा कर रह गया। तमाशा देखने वाले एक संकीर्ण गोलाई बनाए खड़े थे। बीच चौराहे पर मैले बदन का लड़का लंगोटी पहने ज़मीन पर उकरू बैठा ऊपर की तरफ़ देख रहा था। महाजन का जवान लड़का, रेशमी वास्कट में से घड़ी की सोने की चेन लटकाये चाँदी की मुठिया वाली हल्की छड़ी हवा में घुमाता हुआ, लड़के से कह रहा था कि यदि वह ज़मीन पर से चाँदी की चवन्नी जीभ से उठा ले तो चवन्नी उस की हो जायगी। लड़का चूंकि लोगों की ललकार में आकर जीभ से चवन्नी उठाने को तैयार हो गया था इसलिये महाजन के लड़के ने अपने धन का प्रदर्शन करते हुये मनीबेग में से चाँदी की एक छोटी चवन्नी निकाल कर ज़मीन पर फेंक दी और मुस्कराता हुआ ऊपर कोठे की तरफ़ गर्व से देखने लगा। बिहारी की दृष्टि भी जब ऊपर गई तो तमाशे की सही वजह उसकी समझ में आई। नथ पहने गोरे रंग की लड़की नीचे महाजन के लड़के की तरफ़ देखकर मुस्करा रही थी। इसी तरह दूसरे कोठों पर से लड़कियाँ, नथ या बिना नथ के, नीचे सड़क पर तमाशा देखते हुये महाजन के धन और नथ वाली लड़की के भाग्य से ईर्ष्या कर रहीं थीं। इतने में ज़ोर से ताली बजी और मालूम हुआ कि लड़के के मुंह की लार ने लड़के के भाग्य की सहायता कर दी और उसने जीभ से चवन्नी उठा ली। खिसिआया हुआ महाजन का लड़का जिस समय

दूसरी चवन्नी ज़मीन पर फेंकने के लिये मनीबेग खोल रहा था बिहारी को इस बुरी तरह मतली आई कि वह परेशान होकर वहाँ से चल दिया।

चलता जा रहा था और पैसे के निरंकुश शासन को सोच कर उससे परेशान होता जाता था। एकाएक सामने से एक आदमी आता दिखाई दिया जो जाना पहचाना सा लगा। लेकिन बिहारी न तो उसे फ़ौरन पहचान सका और न यह निश्चय कर सका कि किस तरह कतरा कर उससे जान बचाये। अतएव जब तक यह तय कर सकता कि वह कौन था सईद ने सामने आकर जैसे उसका रास्ता रोक दिया।

अब जो मिल गये थे तो अच्छी तरह मिले। और ऐसी जगह मिल कर अगर इस तरह न मिलते तो क्या करते। बिहारी ने यह भी सोचा कि रात को उस समय वहाँ होना उसके लिये शायद उतना ही दोषयुक्त हो सकता था जितना सईद के लिये। सईद को आश्चर्य अवश्य हुआ बिहारी को वहाँ पाकर। लेकिन माँ का दूध उसने अभी तो छोड़ा न था जो बिहारी से शेष 'प्रोग्राम' पूछता। सामने की दूकान पर दोनों चाय पीते और देर तक इधर उधर की बातें करते रहे। फिर जो दोनों उठे तो सीधे उस गली में गये जो मशहूर थी 'जद्दन की गली' के नाम से किन्तु रहती थी जहाँ अब रूपकुँवर।

वैसी ही गली और वही अन्धकार। वैसी ही संकीर्ण ऊँची-नीची सीढ़ियाँ और सीढ़ियों के ऊपर वही प्रकाश का अभाव। किन्तु हज़ार मुसीबतें सही ऊपर तो जाना ही था, क्योंकि कोठे पर रूपकुँवर रहती थीं जो जद्दन की पोती थी। जद्दन बाई का जो ज़माना था उसके बारे में किसने नहीं सुना था। चाय की दूकान पर सईद ने बिहारी के कान में बताया था कि एक वह भी समय था जब जद्दन के यहाँ नवाबों का आना जाना था। उसके

बारे में लोग यह भी कहते थे कि ख़ुद उसका बचपन नवाब वाजिद-अली शाह की ड्योढ़ी में बीता था, इसलिये कि उसकी माँ नवाब साहब की ख़ास लौंडियों में से थी।

तो जिस जद्दन बाई की गद्दी पर रूपकुँवर बैठी थी वह कोई ऐसी वैसी क्या होती। बिहारी ने सईद की बातों से यह नतीजा निकाला था। साथ साथ यह भी सोचता रहा कि शेरनी ने गीदड़नी को थोड़े ही दूध पिलाया होगा। जब सईद ने सब कहा था तो बिहारी विश्वास भी कैसे न करता। आख़िर सईद भी तो वही कहता होगा जो उसने दूसरों से सुना होगा। और सईद कोई ऐसा मित्र तो था नहीं जो क़िस्से गढ़ कर सुनाता। फिर वेश्याओं के बारे में यह भी कोई क्या कह सकता कि क्या सच और क्या झूठ है। परन्तु बिहारी को सईद पर विश्वास था केवल एक मित्र ही होने के नाते नहीं, बल्कि इससे भी अधिक इस कारण कि वह एक अनुभवी, दुनियाँ देखे और दुनियाँ से खेला हुआ नौजवान था।

खुले हुये बरामदे से होकर सईद और बिहारी जब प्रकाशमय कमरे के सामने खड़े हुये तो अन्दर कमरे में टहलती हुई बीस बाइस साल की सुन्दरी ने मुस्कराकर उनका स्वागत किया। आगे आगे सईद था। बिहारी अब सईद की केवल पैरवी कर रहा था। पीछे से बिहारी ने सईद के कंधे पर से झाँक कर एक आँख कमरे की रानी को देखा। देखा और निश्चय न कर सका कि वास्तव में वह औरत थी या जादू की पुतली। सईद बढ़ कर कमरे मे चला गया और अन्दर जाकर उसने बिहारी को भी बुलाया। आदाब और तकल्लुफ़ के बाद दोनों दो कुर्सियों पर बैठ गये। वह स्वयं तख़्त पर चढ़ कर बैठी और पानदान घसीट कर छालियाँ काटने लगी। बिहारी जिस परेशानी से मरा जा रहा था वह यह थी कि पहले से जान पहचान होते हुये भी मिलकर दोनों एक दूसरे से खिंचे खिंचे क्यों थे। सईद चुप सिगरेट पीता जा रहा था

और साथ साथ जैसे अपने भावों पर क़ाबू पाने की भी कोशिश कर रहा था। कुछ देर छालियाँ काटने के बाद उसने दाहिनी पलक उठाकर शरारत भरी नज़र से सईद का जैसे तरेर कर देखा और दूसरी सुपारी उठाकर काटने लगी। उसकी काली साड़ी पर चमकते हुये सितारों को देख कर अन्दर ही अन्दर बिहारी का दिल इस कल्पना से झिलमिला रहा था कि इतनी देर आये हुये और उसने उसकी ओर ध्यान भी न दिया। जिस तरह वह बैठी थी बिहारी उसका पूरा चेहरा भी न देख सकता था।

अपनी जगह से उठकर, सिगरेट का जलता टुकड़ा उगालदान में डालते हुये, सईद ने बिहारी से कहा—"चलो भाई, चलते हो? मैं तो चल दिया।"

काली साड़ी की परी ने मुड़कर बिहारी की ओर देखा और मन्द मुस्कान के साथ उसके ऊपर दृष्टि जमाते हुये जीभ से पान की लाली धीरे धीरे होठों पर फैलाने लगी। बिहारी कुर्सी छोड़ कर उठना चाहता था। किन्तु जैसे उसे वहीं किसी ने गाड़ दिया हो।

सईद कमरे के बाहर पहुँचा तो उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे शत्रु ने अपना ही सैनिक तोड़ लिया हो। परिस्थिति की दुर्बलता का अनुभव बिहारी को भी हुआ। अतएव शतरञ्ज की बिसात फैली देख-कर उसने सोचा कि एक चाल वहीं चल कर देखे।

"ऐसी जल्दी भी क्या है? आओ थोड़ी देर बैठो न फिर चलेंगे।"

"तुम चाहो बैठो। मैं ऐसी जगह बैठने से रहा।"

"तो तुम जाओ न। तुमसे कहता कौन है बैठने को? बड़े जो आये हो बस के।"

अब तो बिहारीलाल के होश दुरुस्त न रहे। उसने सोचा यह तो बात का बतंगड़ हो गया। सईद कब उस चोट को चुप सह लेता। उसने कमरे में प्रवेश करते ही जैसे आग लगा दी—"देखा जी,

तुम्हारी जैसी लौंड़ियें मैंने बहुत देखी हैं। जब तक पास पैसे हैं दस मिलेंगी तुम्हारी जैसी।"

"वाह रे पैसे वाले! बड़ा चला है पैसे दिखाने। चल चल कहीं और जा, जो तेरी हवा में आये। यहाँ तुम्हारे जैसे जूतियों पिटते हैं।"

"आ पीट तो जूतियाँ, देखूँ मैं ज़रा।" सईद कुर्सी पर बैठ गया था, उठ कर खड़ा हो गया—"चुड़ैल कहीं की!"

बिहारी अपनी जगह से उठ कर तख़्त और सईद के बीच में आ गया और बीच बिचाव करने लगा। लेकिन बात चूँकि दोनों तरफ़ से शुरू ही में अपनी सीमा तक पहुँच गई थी इसलिये और आगे बढ़ने मे जल्द ही रोक भी ली गई। दोनों चुप होकर बैठ गये।

बिहारी ने जेब से डिबिया निकाली और दोनों को सिगरेटें देने लगा। झगड़े के एक फ़रीक़ ने तो ज़नाने ढंग से धन्यवाद देते हुये सिगरेट स्वीकार कर लिया। किन्तु दूसरे फ़रीक़ ने इस बहाने माफ़ी चाही कि वह अभी सिगरेट पी रहा था। बिहारी ने भी सोचा कि अभी किसी ऐसी बात पर ज़ोर न देना चाहिये जो झगड़े की स्मृति किसी तरह फिर से ताज़ा कर दे।

सईद चुपचाप बैठा सामने दीवार पर लटके हुए लम्बे चौड़े चित्र के बर्फ़ीले दृष्य और उसमें फसे हुये बारहसिंघे की परेशानी और निस्सहायता को समवेदना की दृष्टि से देखता रहा और अपने को उस दूर बर्फ़ीली दुनियाँ में रखकर मालूम नहीं क्या क्या सोचता रहा।

बिहारी ने जो टूटे फूटे वाक्य सुने थे उनसे झगड़े का पूर्ण रूप समझना सम्भव न था। उसे केवल सईद की मूर्खता पर आश्चर्य होता रहा। वह सोचता रहा कि वह सईद की सनक थी जिसने बात इतनी बढ़ा दी। यदि बेचारी किसी और के साथ बात कर चुकी थी तो एक ही साथ दो को कैसे प्रसन्न कर सकती। और फिर दस रुपये और पाँच रुपये में फ़र्क़ ही क्या?

इस तरह वह सोचता रहा और जितना सोचता उतना ही सईद को दोषी पाता। बैठे बैठे उसकी आँखें रह रह कर तख्त की रानी से एक हो जातीं। निगाहों के ऐसे क्षणिक मिलन में नवाबों की ड्योढ़ी में पली जहन की पोती सौन्दर्य और प्रेम के वह मूक-संदेश बिहारी के कानों में सुना देती जिससे उसकी उँगलियों की पोरें टूटने लगतीं।

बैठा बैठा जब वह यह निश्चय कर रहा था कि वहाँ से इस तरह ख़ाली हाथ वापस न जायगा तो सईद के पैर फ़र्श की दरी पर एका-एक हिले, जैसे उसने बिहारी के मन की बात सुन ली हो। किन्तु जब उसने उठकर चलना चाहा तो अब की बार वेश्या ने अपनी ही शक्ति का प्रयोग किया—"अभी कैसे जाओगे ? मैं ऐसे तो जाने नहीं देती। बैठो अब गाना सुने बिना नहीं जाओगे।"

इसमें संदेह नहीं कि जब यह शब्द उसके मुँह से निकले उसके नेत्र सईद के बजाय बिहारी के ऊपर जमे हुये थे। अतएव जब बिहारी के गले में सुन्दरी ने जयमाल डाल दिया था तो दिलों की शादी देखे बिना सईद भी ऐसा क्या बड़ा हठधर्मी था जो वहाँ से चला जाता। तय पाया कि कुछ देर गाना बजाना होगा।

जिसके अंग अंग का संगीत सुनकर बिहारी का हाल जब योंही बेहाल हो रहा था तो वह उसका गाना सुने बिना कैसे जाता। सईद की कठिनाई दूसरी थी। लड़ाई के बाद वह अकेला वहाँ से निकलना नहीं चाहता था। वैसे चाय की दूकान ही पर दोनों मित्रों के बीच यह तय हो चुका था कि जब बातचीत हो जायगी तो बिहारी को वहाँ छोड़कर सईद चला जायगा। और विशेष कर उस तकरार के बाद तो सईद वहाँ से हर क्षण निकल भागना चाहता था। किन्तु अन्दर दिल में एक चोर छिपा था जो उसके सारे क्रोध और घृणा के बवंडर को पिये जा रहा था और उसके पैरों को वहाँ से हटने से जैसे बेकार कर दिया था। उस तकरार और हार के पश्चात् बिहारी को छोड़कर अकेले खिसियाया हुआ वहाँ से निकलना

नहीं चाहता था। मालूम नहीं उसकी पीठ पीछे दोनों क्या बातें करें और न जाने बिहारी उस चुड़ैल के मत में आकर उसके बारे में क्या राय बनाये। इसके विपरीत, यदि बिहारी कुछ चाहता था तो केवल यह कि सईद किसी तरह वहाँ से चला जाय। आश्चर्य उसे इस बात पर हो रहा था कि जहाँ सईद को पहले ही चला जाना चाहिये था वहाँ वह जूतियों की फटकार सुनकर भी अपनी जगह से टस से मस नहीं हो रहा था।

देर हो गई थी इसलिये साज़िन्दे घर जा चुके थे। मगर औरत यदि किसी को ख़ुश करने ही पर आ जाय तो वह क्या नहीं कर सकती है। अतएव उस ने चप्पलें पहनते हुये कहा—"ठहरिये, मैं नीचे अम्मा से कहकर आती हूँ। रोजन को बुला दूंगी। सारंगी वाला मिल जायगा तो और सब इकट्ठे हो जायेंगे।" कहती हुई वह जल्दी जल्दी कमरे के बाहर जाने लगी। बिहारी ने सोचा मौक़ा अच्छा है। इस बहाने अकेले होकर उससे कुछ दिल की बातें कर लेगा। यह सोचता हुआ वह भी उठा—"अंधेरे में आप अकेले कैसे जायेंगी? ठहरिये मैं भी आपके साथ आता हूँ।"

परन्तु उस तकल्लुफ़ की प्रतिक्रिया कुछ विचित्र ही हुई और एक क्षण के लिये उसके मुख पर चिन्ता और परेशानी की वह रेखाएँ खिंच आईं जिन्हें देखकर बिहारी का जैसे दिल ही बैठ गया। और चूंकि किसी भी क़ीमत पर वह उसकी अप्रसन्नता मोल लेना नहीं चाहता था इसलिये जद्दन की पोती की मूक-विकलता देखकर कुर्सी पर से चूंकि उठ चुका था, बेतकल्लुफ़ी का प्रदर्शन करते हुये तख़्त पर जा बैठा। सीढ़ी पर उतरती हुई चप्पलों की आवाज़ से मालूम हुआ कि साज़िन्दों के बुलाने के लिये जूतियों का संगीत कोठे के नीचे तक पहुँच चुका था।

"यार तुमने भी कमाल ही कर दिया। आख़िर बात भी ऐसी क्या थी? कुछ समझ में न आया।"

"कुछ न कहो भाई, साली बड़ी हरामज़ादी है। मैं जो जानता कि यह कंम्बख़्त आज फिर मिलेगी तो तुम्हें कदापि यहाँ लाने की मूर्खता न करता।"

"क्यों यही तो रूप कुंवर जद्दन की पोती है ?"

"नहीं यार, तुम भी वही रहे। कहाँ रूप-कुंवर और कहाँ यह हराम ज़ादी। यह शायद उसकी कोई दूर की नातेदार है। किसी छोटे नगर से रूप कुंवर के यहाँ उठना बैठना सीखने चली आई है।"

"तुम भी क्या कमाल—"

"क्या ? यानी वह आपकी नज़र में बड़ी भद्र और सुघड़ है। मियाँ अभी इन गलियों की ख़ाक कुछ दिन छानों तो मालूम होगा कि अवध की तवायफ़ें क्या होती हैं। कोई सभ्य औरत होती तो क्या समझते हो इस तरह बदज़बानी करती। बिहारी तुम क्या जानो ? नवाबों की सन्तानें बसती हैं यहाँ। गर्दन काटकर आपकी नज़र कर देंगी, किन्तु जीभ से 'उफ़' न निकलेगा।"

"बस यार अब शायरी न करो। बताओ आख़िर बात क्या थी ?"

"बात क्या थी ? बात कुछ भी न थी। उस दिन यह सोच कर आया कि रूपकुंवर मिलेगी यहाँ यह कम्बख़्त मिली। रूपकुंवर कहीं बाहर गई थी। बाद में मालूम हुआ कि चीफ़ कोर्ट के सिराजउद्दीन साहब के साथ वह इन दिनों रहने लगी है। कई महीने से पहाड़ पर पड़ी है उन्हीं के साथ।"

बिहारी आश्चर्य कर रहा था उस तक़दीर पर और सोच रहा था उस वकालत को जो रूपकुंवर के बहुमूल्य समय को इस तरह ख़रीदे हुये थी। कुछ देर चुप रह कर बोला—"तुम्हारे कहने का क्या मतलब कि रूपकुँवर कोई और है और यह कोई—"

झुँझलाकर—"यार तुम निरे बुद्धू निकले। जैसे औरत तुमने कभी देखी नहीं। क्या मैं तुमसे झूठ बोल रहा हूँ ?"

"नहीं, मैंने सोचा शायद मज़ाक करते हो। अच्छा बताओ फिर हुआ क्या ?"

अति गम्भीर होकर—"बिहारी यह मज़ाक़ की जगह नहीं है। तुम्हारी तरह यहाँ जो हँसी मज़ाक़ के ख़याल से आते हैं वे कहीं के नहीं रहते। इस अंधेरी दुनिया की यह विशेषता है कि यहाँ के रहने वाले अपने शिकार को पहचान कर उसी तेज़ी और सफ़ाई से छापा मारते हैं जैसे शेर मचान के नीचे बंधे हुये बकरे पर—"

"सईद, तुम मालूम नहीं क्यों आज विचित्र मानसिक दशा में हो जिसके कारण इस समय सब तुम्हारे दुश्मन हैं और हर चीज़ तुम्हें ख़तरे का रूप ग्रहण किये नज़र आ रही है। मैं तुमसे उसरात के विषय में पूछता हूँ और तुम—"

"और तुम मालूम नहीं क्यों उस दिन की घटना जानने के लिये मरे जा रहे हो। उस दिन की बात कुछ भी नहीं थी। मैं इस विचार से आया कि रूप से भेंट होगी। तुमसे मैंने बताया कि उसकी मेरी मुलाक़ात भी थी। ऐसी ढंग की औरत है कि उसके पास दस मिनट बैठकर जी बदल जाता है। मगर अब जो आ गया था तो चला भी कैसे जाता। सोचा कुछ देर बैठकर बातें करूँ। किन्तु यह बातें क्या करती। इसको तो जब देखो अपना पेशा—"

बिहारी चुप बैठा बातें सुनता रहा और अन्दर ही अन्दर यह सोचकर मुस्करा रहा था कि सईद उस बेचारी से इतना खीझ गया है कि किसी भी हालत में उसके साथ न्याय करने को तैयार नहीं है। जबसे दोनों आये थे उस ने कोई रोज़गार की बात तो उठाया भी नहीं। लेकिन सईद ऐसी मानसिक दशा में था कि वह वेश्याओं के बारे में जो कुछ जानता था जैसे सब कह डालना चाहता था—

"ख़ैर, मैंने सोचा यही सही। शक्ल सूरत तो कम्बख़्त की ऐसी बुरी थी नहीं—"

बिहारी अपना रोग-निदान सईद के बारे में इस हद तक सही

उतरते देखकर आदमी की कमज़ोरियों का अच्छा ख़ासा विशेषज्ञ बना प्रसन्न हो रहा था। उस अप्सरा का वर्णन उन शब्दों में सुनकर वह और क्या सोचता।

"बात दस रुपये पर तय पाई। मुझे सन्देह ज़रूर हुआ। परन्तु उस समय कैसे कुछ कहता। जब कमरा खुला और रोशनी हुई तो मैंने देखा कि वह कोई और थी। मैं अपना क्रोध पीकर रह गया। और इसकी बदमाशी देखो कि उसके बाद मेरे सामने आई भी नहीं।"

बिहारी ने कमरे के बाहर इधर उधर देखते हुये इस विचार से बेचैन होकर कि वह अब तक नहीं आई यूंही बात जारी रखने के लिये सन्देहपूर्वक कहा—"यह तो अजीब बात बता रहे हो। शायद—"

"शायद वायद कुछ नहीं। तुम इन्हें अभी जानते नहीं। जब जान जाओगे तो मेरी बातों का मूल्य समझोगे। मुझे इन हरामज़ादियों का बड़ा अनुभव है। इनसे ख़ूब परिचित हूँ मैं। परन्तु यह तो इनका सौभाग्य है कि आमतौर से इनका पाला तुम्हारे जैसे लोगों से पड़ता है। फिर ये इस प्रसन्नता और इत्मीनान से अपने चाहने वालों को लूटती और नंगा करती हैं कि फिर वे कहीं के नहीं रहते। ऐसे ही एक वार और अवसर पड़ा। मैं यूनिवर्सिटी में पढ़ता था। मालूम हुआ कोई बड़ी सुन्दरी आई है। कालेज के अनुभवहीन लड़कों का जमघट लगा रहता था। रोज़ यही सुनूँ कि आज किसी की साने की घड़ी ज़ालिम ने उतरवा ली है तो कोई साहब अँगूठो दे आये। फ़ीस भी साहबज़ादी काफ़ी ऊँची रक्खे हुये थीं। लेकिन फ़ीस से भी अधिक अपने प्रेम के जादू का जाल बेचारे लड़कों पर डाल उनकी जेबें ख़ाली करा लेती थी। एक बेचारा तो ऐसा उसके चरके में आया कि किताबें और कपड़े इत्यादि बेच कर दे आया—"

बिहारी ने कमरे के चारों ओर सन्देहात्मक दृष्टि डाली और इस चिन्ताजनक विचार से तनिक विकल होकर कि वह अभी तक न आई तख्त पर से उठा और सईद के बग़ल में आकर बैठ गया।

"फिर क्या हुआ?"

"हुआ क्या? यही हुआ कि यारों से तय पाया कि मैं भी एक दिन उस जादूगरनी के दर्शन करूँ—"

सईद के मुँह से 'जादूगरनी' शब्द सुनकर बिहारी अन्दर ही अन्दर सहमा। किन्तु फिर अपने को सँभाला। सईद पर जैसे पागलपन सवार था। बिना कुछ सोचे जैसे दिमाग़ का बोझ हल्का किये डाल रहा था—

"मै उनका सबसे बड़ा भगत बना। ऐसा कि उन्होंने मुझसे सौदा भी मामूली ही ढङ्ग से किया। सोचा कि ऐसे से सौदा करने से क्या फ़ायदा जो ख़ुद ही अपने को बिना भाव बेचे डाल रहा है। वह तो सुबह नींद खुलने पर मालूम हुआ कि तकिया के नीचे न पचास रुपये थे और न सोने के गहने।"

"तो क्या तुम अपने रुपये और उसके गहने सब ले भागे?"

"ले भागे? बेगम को नींद आई न थी कि तकिये के नीचे हाथ डालकर जो गहने उन्होंने सोने से पहले उतार कर रख दिये थे निकाले और सब माल-टाल रूमाल में इत्मीनान से बाँधा और वहाँ से एक दो तीन हुआ।"

बाबू बिहारी लाल और घबराये—"तो यहाँ यह सब भी होता है?"

"यह सब? यार यहाँ यही तो होता है। वैसे यहाँ क्या नहीं होता? डाका पड़ता है, ख़ून होता है, हत्या होती है। क्या नहीं होता? यह दुनियाँ शरीफ़ों की दुनियाँ थोड़े ही है। लूटने और गला काटने के लिये यह तख़्त पर फ़र्श लगाए बैठी रहती हैं।

पानदान इनके व्यापार का सबसे बड़ा हथकण्डा है। दो बीड़े पान के एहसान से किसके गले में यह फंदा नहीं डाल देती हैं। पान में क्या क्या मिला रहता है यह तो कम ही पान खाने वाले जानते हैं।"

बिहारी ने भी वही पान खाया था। दाँतों में छालियाँ फँसी रह गई थीं, उगालदान में थूकने लगा—"भाई अब चलो और ज़्यादा बातें मत सुनाओ। मेरा तो जी घबराने लगा।"

एक बार सईद भी मुस्कराया—"अभी कैसे चलोगे? फँसे हो तो इतने सस्ते छूटोगे। तुम क्या समझते हो कि वह अब तक साज़िन्दे ही बुला रही है? अजब नहीं कि वह बग़ल के कमरे में किसी और के साथ पड़ी हो। फिर आकर यहाँ इतनी देर बैठने की फ़ीस भी हम से वसूल कर लेगी।"

"नहीं अगर यह सब न भी हो तब भी यहाँ से चल देना चाहिये। आख़िर हम लोग कब तक इस तरह बैठे रहेंगे।"

बिहारी उठकर कमरे में टहलने लगा। बेचैनी बढ़ रही थी। कमरे की हर चीज़ जैसे अब उसको डराने लगी थी।

"बैठो, आख़िर घबराने की क्या बात है। मैं तो जानता हूँ न जहाँ वह गई है। थोड़ी देर और बैठो आती ही होगी। असल में नीचे जाते समय हो न हो उसे कोई सीढ़ी पर मिल गया। पैसा हाथ से जाने देने वाली औरत नहीं है।"

बिहारी एकटक तख़्त पर से नीचे लटकती हुई सफ़ेद चादर के किनारे को ध्यानपूर्वक देख रहा था।

सईद ने पूछा—"क्या देख रहे हो?"

बिहारी चादर के किनारे और कोने पर कढ़ाई का काम देखते हुये बोला—"इतने बढ़िया फूल काढ़े हैं इसने—"

"अच्छा तो तुम अभी यहाँ के फूलों ही को देख रहे हो। काँटे यहाँ के और भी देखने योग्य होते हैं। हाँ देख लो ग़ौर से। बीबी से

कहना ऐसे ही फूल तुम्हारी चादरों में बना देंगी।"

बिहारी ज़मीन पर बैठा चादर उलट कर उसके कोने की नक्काशी देख रहा था। देखते-देखते वह एकदम चौंका। सईद भी सतर्क हुआ। अब जो दोनों की निगाहें तख़्त के नीचे गईं तो आदमी का धड़ दो हिस्सों में नज़र आया। बिहारी ने जो पीछे हटना चाहा तो पछाड़ खाकर फ़र्श पर गिरा। सईद ने आगे बढ़कर नीचे लटकी हुई चादर एकदम ऊपर उलट दी। ऊपरी धड़ की पथराई हुई आँखें सईद को देख रही थीं। लाश ख़ून में लथ-पथ थी। सईद ने घूम कर जो आँखें फाड़ कर बिहारी को देखा तो उसका चेहरा चादर की तरह सफ़ेद नज़र आया। बिहारी का हाथ पकड़ कर जब उसने एक किनारे करना चाहा तो देखा कि वह चिल्लाने की कोशिश कर रहा है। किन्तु आवाज़ गले से निकल न पा रही थी। बिहारी के मुँह पर हथेली रखते हुये उसने इशारा किया पीछे पीछे चलने को। बाहर जाते-जाते सईद ने तख़्त पर मुड़ी हुई चादर नीचे गिरा दी। बरामदे में जाकर उसने उँगली से संकेत करके बिहारी को वहीं खड़े रहने का आदेश दिया और स्वयं सीढ़ी की तरफ़ बढ़ा। लेकिन उस तरह वहाँ अकेले खड़े रहना बिहारी के बस की बात न थी। इसलिये खिसकता हुआ वह भी सईद के पीछे-पीछे चला। सईद को उसका पीछा करना अच्छा न लगा। किन्तु बिहारी को समझाने अथवा ढाढ़स बंधाने का समय कहाँ था। बिहारी ऐसी अवस्था में कहाँ सोच-समझ सकता था। चूंकि सवाल उस समय-जीने मरने का था इसलिये उसके अन्दर से जैसे किसी ने आवाज़ दी—'सईद तुम्हें छोड़कर चला न जायगा।'

सईद ने नीचे जाकर जो सीढ़ी के दरवाज़े को धक्का दिया तो मालूम हुआ कि किसी ने बाहर से कुंडी चढ़ा दी थी। दिमाग़ तेज़ी से काम कर रहा था इसलिये बातें धीरे धीरे समझ में आ रहीं थीं। जब वह बिहारी का हाथ पकड़े ऊपर आया तो अब

पूरी सूरत समझ में आई। होठों पर उँगली रखकर उसने धीरे से बिहारी के कान में कहा—"जान का सवाल है। मेरे पीछे पीछे आओ। जो कहता हूँ करो।"

बिहारी उसके पीछे-पीछे चला। लेकिन जब सईद फिर उसी कमरे में दाख़िल होने लगा जिसमें लाश के टुकड़े रक्खे हुये थे तो बिहारी के पैर आगे न बढ़े। किन्तु उसी समय उसे सईद का वाक्य स्मरण हो आया—'जान का सवाल है।' अतएव वह सईद के साथ कमरा पार कर गया। जिस सयय गुसलख़ाने से होकर गुज़र रहा था उसके सर से कोई चीज़ छू गई। जो चौंककर देखा तो खूटी पर औरत के सर के नक़ली बाल लटक रहे थे। झपट कर वह सईद की बग़ल में हो लिया। सईद पीछे कोठे के बलेसर के पास पहुँचकर दूसरे कोठे पर छलांग मारने के लिये गली की चौड़ाई का अंदाज़ा लगा रहा था। बिहारी ने जो नीचे झाँक कर देखा तो उसका तो दिल ही बैठ गया। सईद बलेसर पर चढ़कर बिहारी का हाथ पकड़ कर खींचने लगा। लेकिन जब उसने देखा कि बिहारी बिल्कुल बेदम हो गया है तो उसने वही वाक्य फिर दुहराया—"बिहारी! जान का सवाल है।"

और जब तक बिहारी बलेसर के ऊपर चढ़ता सईद गली फांद कर दूसरे कोठे पर पहुँच गया था। दूसरे कोठे की छत पर पहुँचना बिहारी के बस की बात न थी। लेकिन सईद के उस पार निकल जाने के बाद उसने जो अपने को वहाँ अकेला पाया तो वह भी जान पर खेल गया। सईद अब दूसरे मकान की छत की दूरी को मन ही मन नाप रहा था। दीवार पर से गंदे पानी का जो पाइप नीचे जाता था उसे देखकर उसने सोचा कि उसके सहारे नीचे उतर जाय। लेकिन उसी समय गली में किसी के चलने की आहट मिली। उसे ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई पगड़ी बांधे गली में खड़ा है। इसलिये वह बिहारी का हाथ पकड़े मकान की तीसरी छत पर चढ़ गया। ऊपर

पहुँच कर उसने देखा बग़ल वाला मकान बिल्कुल मिला हुआ था। कठिनाई केवल यह थी कि दीवार पर शीशे के टुकड़े जड़े हुये थे। उसने जेब से रूमाल निकाल उसे हाथ में लपेट कर बग़ल वाले मकान की छत की लोहे की तेज़ सलाख़ पकड़ ली और फिर शीशे के टुकड़ों पर जूते रखकर दूसरे मकान की छत पर पहुँच गया। मकान की छत पर पहुँच कर उसने बिहारी के कान में कहा—"अब साहस से काम लो।" बिहारी ने सोचा मौत यहीं कहीं है।

सईद धीरे-धीरे सीढ़ी से दूसरी छत पर आया। टीन की छत के नीचे कोई सो रहा था। सईद सोनेवाले के बिल्कुल बग़ल से निकला। बाईं तरफ़ नीचे जानेवाली सीढ़ी नज़र आई। वह नीचे उतर गया। सीढ़ी जहाँ समाप्त होती थी वहाँ दरवाज़ा बन्द था। दरवाज़े को टटोलकर सईद ने मालूम किया कि ताला नहीं बल्कि केवल चटख़नी चढ़ी थी। जो चटख़नी खुली तो आगे गली मिली। एक मिनट ठहरा रहा। फिर आहट लेकर बाहर गली में निकल आया।

जिस समय दोनों गली में तेज़ क़दम चल रहे थे आगे जाकर बिहारी ने भागना चाहा। सईद ने कंधा पकड़ कर उसे पीछे खींचा। बिहारी सईद को कोसता हुआ जितना तेज़ सईद उसे चलने देता था चलता रहा। और यही लगातार सोचता रहा कि इस कम्बख़्त ने आज कहाँ लाकर फँसाया। परन्तु इस समय तो जान का सवाल था। इसलिये उसके न पाने का खेद न रहा जिसकी खोज में आज शाम ही से चौक की तंग सड़क पर आ निकला था।

मेरा पहला ब्राडकास्ट

बहुत दिन नहीं हुये, सम्भवतः सन् १६४२ की बात है। यूनिवर्सिटी में कुछ दिनों नौकरी करके उस समय लगभग बेकार ही था। किसी और दशा में वह अत्यन्त शोकमय बात होती। परन्तु केवल उस अवस्था और उस के दिये हुये मानसिक स्वास्थ्य ही का वह तक़ाज़ा था जो मैंने साहस तथा आशा की बागडोर हाथ से बिल्कुल छोड़ नहीं दी। बजाय किसी घातक निराशा अथवा बेसब्री के मन की वह दशा थी कि अनुकूल अथवा प्रतिकूल हवा के चलने से तिनके की हर गति को अपने लिये किसी न किसी सुख का सन्देश-वाहक समझता था।

एक दिन ऐसे ही बैठे बैठाये देखता क्या हूँ कि डाकिये ने एक लम्बा लिफ़ाफ़ा लाकर 'लेटर बक्स' में डाल दिया। जब लिफ़ाफ़ा निकाला तो देखा कि उस पर 'ऑन हिज़ मैजेस्टीज़ सरविस' लिखा हुआ था। उससे पहले चूंकि उस क़िस्म का लिफ़ाफ़ा पाने का कम ही अवसर मिला था इसलिये लिफ़ाफ़े को देखते ही जैसे आँखों में आशा के आँसू भर आए। लिफ़ाफ़ा हाथ में लेते ही एक दूसरी लिखाई पर नज़र पड़ी—'ऑल इन्डिया रेडियो'। फिर क्या था, दिल

बल्लियो उछला। आप शायद इसे दिमाग़ की ख़राबी कहें। परन्तु मेरी कठिनाई यह थी कि उस समय जब भी मैं नौकरी की सोचता तो यूनिवर्सिटी के अतिरिक्त दो ही और उचित जगहों का ख़्याल आता था—दिल्ली सरकार अथवा 'ऑल इन्डिया रेडियो' की नोकरी। ऐसी हालत में लिफ़ाफ़े पर 'ऑल इन्डिया रेडियो' लिखा देखकर दिल पर क्या बीती होगी आप स्वयं सोचिये।

रेडियो के उस लिफ़ाफ़े को मैंने नौकरी का पत्र समझा। मेरी ख़ुशी और परेशानी का अंदाज़ा आप लगा सकते हैं। परन्तु अनुभव के आधार पर अब यह कह सकता हूँ कि दुनियाँ तथा अपने भाग्य से इस प्रकार की आशाएँ रखना और बालू पर भीत बनाना दोनों एक ही हुआ। लिफ़ाफ़ा फाड़ते-फाड़ते जैसे दिल फट गया। पत्र के विषय से मालूम हुआ कि १८ फ़रवरी को एक व्याख्यान 'ब्राडकास्ट' करना था। ले देकर ३५ रुपये। जी हाँ कुल पैंतीस रुपये, इसलिये कि उस समय एक व्याख्यान के लिये रेडियो से पैंतीस रुपये का केवल एक चेक, यानी रुपया नहीं बल्कि रुपया मिलने का काग़ज़ी वादा मिलता था।

परन्तु जब सँभल कर सोचा तो इस नतीजे पर पहुँचा कि बुरा क्या है। अपने को समझाया—भाई रुपयों की मत सोचो। कुछ मामले ऐसे भी होते हैं जिनमें नक़द की बात कम और मान और रुतबे इत्यादि की सूरतों पर अधिक सोचा जाता है। वैसे रेडियो पर बोलने का हौसला भी पुराना था। लेकिन और हौसलों की तरह वह भी इस निराश जीवन में पूरा होता दिखाई नहीं देता था। 'ऑल इन्डिया रेडियो' के 'प्रोग्राम' बनाने वाले एक साहब एक बार इस तरफ़ आये भी। लेकिन यूनिवर्सिटी के और लोगों के साथ मेरी भी 'बहुमूल्य' राय लेकर चले गए। रुपया सवा रुपया उनकी आवभगत में ख़र्च हो गए। हाथ कुछ न लगा। इसलिये सोचा अवसर अच्छा है। इसी बहाने सरकारी ख़र्चे पर लखनऊ भी हो

आयेंगे। लड़ाई का ज़माना है। वहाँ भी बड़े-बड़े दफ़्तर खुल रहे हैं। अर्थशास्त्र वालो की इन दिनों हर जगह खपत की सूरतें पैदा हो गई हैं। कौन जाने कहाँ और कब काम बन जाये। एक ही ढेले में दो बटेर। और अगर कुछ न हुआ तो यह क्या कम कि वाणी वायु-मण्डल में कैलाश पर्वत से लेकर कन्याकुमारी तक लहराएगी। शब्द तारिकाओं के मुँह चूमेंगे। वाक्य आकाश-गंगा से होकर गुज़र जायेंगे।

इस तरह अपनी उमंगों का बोझ लिये उठा। पत्र उठाकर एक बार फिर से देखा। दीवार पर लटके हुये कैलेण्डर से ब्राडकास्ट की तारीख़ मिलाई। रंगीन मोटी पेन्सिल लेकर कैलेण्डर पर १८ तारीख़ को एक लाल गोलाई में घेर दिया। पत्र लेकर अन्दर गया। मियां की बाछें खिली देखकर बीबी भी मुस्कराईं। समझीं हो न हो कोई खुशख़बरी है। एतएव इस डर से कि वह कुछ अधिक न समझ लें मैंने तुरत बता दिया—"रेडियो पर बोलने जाना है।" बच्चे एक दम चिल्ला उठे—"बाबू रेडियों पर बोलेंगे, बाबू रेडियो पर बोलेंगे।" आफ़त मच गई। बीबी को देखा, कुछ परेशान सी लग रहीं थीं। उस हँगामे में पूरी बात उनकी समझ में भी न आई। सम्भवतः इस ख़्याल से परेशान थीं कि रेडियो पर तो गाना बजाना होता है। इसलिये मैंने उन्हें समझाया—"उस दिन हिटलर को बोलते सुना था न ? हाँ, बस वही"।

यह झगड़ा तय हुआ तो अब दूसरे झगड़े पैदा हुये। सोचने लगा इस आकस्मात् और गुप्त एहसान के लिये कौन ज़िम्मेदार हो सकता है। नेकी करना और इस तरह छुप कर। दिल जैसे भर आया। बेतहाशा कृष्णचन्द्र साहब का ख़्याल आया। चूंकि उर्दू के बड़े दिग्गज साहित्यकार माने जाते थे इसलिये एक आध क़िस्से कहानी लिखने के नाते एक बार उनसे भी पत्र-व्यवहार कर बैठा था। वह उन दिनों 'ऑल इन्डिया रेडिओ' लखनऊ में ही मुलाज़िम थे। मैंने सोचा,

हो न हो मेरा 'आर्ट' उन्हें भी पसन्द आया। इसलिये सम्भवतः मेरे आदर सम्मान अथवा मर्यादा बढ़ाने की उन्होंने यह सूरत निकाली है। कृतज्ञता के भावों को प्रगट करने के उद्देश्य से एक ख़त उन्हें उसी समय टाइप कर के डाल दिया। और ख़त के आख़िर में स्पष्ट कर के लिख दिया था कि जब लखनऊ आऊँगा तो आप ही के यहाँ ठहरूँगा।

पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा का कहाँ अवकाश था। सोचा, पत्र पहुँच ही गया होगा, उत्तर आये न आये। वास्तव में उस मानसिक उतावलेपन में इस प्रकार के कोमल तथा 'मंजुल' पहलुओं की ओर ध्यान भी कैसे जाता। यह तो ब्रॉडकास्ट का भूत सर से उतरने के बाद मालूम हुआ कि बेचारे व्यस्त कृष्णचन्द्र को उस ब्रॉडकास्ट के न्योते से दूर का भी सम्बन्ध न था। यानी वह एक दूसरे ही महाशय की कृपा थी। ऐसी हालत में कृष्णचन्द्र साहब मेरा पत्र पाकर लज्जित न होते तो क्या करते। और फिर पत्र में धमकी जो थी, यानी लखनऊ पहुँच कर उन्हीं के यहाँ ठहरने का निश्चय। ऐसी दशा में पत्र का उत्तर कौन देता और बेमाँगी मुसीबत मोल लेता।

परन्तु, जैसा कि मैंने अर्ज़ किया, मेरे ऊपर तो और ही सरगर्मियाँ सवार थीं। यानी किस गाड़ी से जाऊँ, किस दर्जे में सफ़र करूँ, क्या क्या कपड़े साथ ले जाऊँ, लखनऊ में कितने दिन ठहरूँ, इत्यादि इत्यादि। बात कुल पैंतिस रुपये की थी। इसलिये यह ख़्याल भी स्थायीरूप से बना रहा कि लौटते समय अवश्य कुछ बचकर आना चाहिये, क्योंकि एक तरह से वह मेरी पहली 'साहित्यिक' कमाई थी। ख़ैर साहब, एक एक करके सब मंज़िलें तय हुईं और मैं किसी तरह अपनी जान लेकर रात के साढ़े नौ बजे इन्टर क्लास के एक डब्बे में सवार हो गया।

वैसे तो घर से प्रस्थान करने से पहले हस्तलिपि तैयार कर चुकने

के पश्चात् उसे कई बार दुहरा-तेहरा डाला था। बल्कि यहाँ तक कि मसविदा अर्थात् हस्तलिपि का अच्छा ख़ासा हिस्सा अब कण्ठस्थ हो चला था। कभी घड़ी सामने रखकर, कभी किसी दोस्त को बैठाकर, कहने का मतलब यह कि हर दशा में और हर ढंग से हस्तलिपि का पाठ करके उसे पन्द्रह मिनट की पाबन्दी के अनुसार पक्का कर लिया था।

यदि आप पूछें कि आख़िर वह कौन सी ऐसी अगम समस्या थी जिस पर इस बुरी तरह अक़्ल और सोच-विचार का ख़र्चा हुआ और इतनी अनावश्यक परेशानी उठानी पड़ी, तो अब लेख का शीर्षक तो याद नहीं रहा। किन्तु इतना अवश्य याद पड़ता है कि किसी सम्बन्ध में लड़ाई के बाद पैदा होने वाली दुनिया का जैसे एक सजीव चित्र खींच कर रख दिया था मैंने। ख़ैर छोड़िये इन बातों को। वास्तव में रेडिओ के वास्ते लेख लिखना अन्य क्रियाओं और झंझटों की अपेक्षा सबसे सुगम कार्य होता है। असल में इस सिलसिले में जो दो सबसे बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उनमें से एक है लखनऊ तक सफ़र करना और दूसरी है ठीक पन्द्रह मिनट में, बिना खाँसे हुये, पूरा व्याख्यान पढ़कर सुना देना। पहली कठिनाई का उल्लेख कर चुका हूँ। दूसरी परेशानी का दौरा ट्रेन के सफ़र ही में शुरू हो गया।

हस्तलिपि की एक प्रति पहले ही डाक द्वारा लखनऊ भेज चुका था। दूसरी प्रति जेब में रख ली थी। चुनांचे ट्रेन में जब तक नींद नहीं आ गई तब तक उसे बार-बार पढ़ता रहा। फिर भी निरन्तर चिन्ता बनी रही कि किस तरह ठीक पन्द्रह ही मिनट पर, यानी न एक मिनट पहले न एक मिनट बाद, व्याख्यान समाप्त हो होगा। साथ साथ जो दूसरी चिन्ता मारे डालती थी वह यह थी कि मालूम नहीं देश के कोने-कोने में कौन-कौन महापुरुष मेरा व्याख्यान सुनते हों और पता नहीं क्या राय क़ायम करें मेरे बारे में। कभी गांधीजी का और देश के अन्य नेताओं का ख़्याल आये तो कभी

लाट साहब इत्यादि का ख़्याल सताये। दोस्तों दुश्मनों को भी सोचा। कहने का मतलब यह कि मानसिक दशा ऐसी थी कि बस सारे देश को अपना ब्रॉडकास्ट ही सुनता अनुभव करता रहा और उस सोच से इस तरह परेशान होता रहा।

परन्तु उस ड्रामे का प्रलयंकर दृश्य उस समय प्रारम्भ हुआ जब मैं लखनऊ स्टेशन से तांगे पर सवार होकर रेडियो हाउस की ओर चला। वैसे लखनऊ पहले भी आने का अवसर हुआ था। किन्तु आज लखनऊ में प्रवेश करते समय विचित्र अनुभव हुआ। ऐसा मालूम होने लगा कि जैसे सड़कों पर चलने वाले मुझे देखते ही पहचान जाते हैं और उनके अर्थपूर्ण नेत्र कहते हैं—"आप ही रेडियो पर बोलेंगे आज!" ज्यों-ज्यों तांगा शहर के अन्दर चलता जाता यह भाव तीव्र होता जाता। एक 'स्टेज' ऐसा भी आया जब मैंने अनुभव किया कि जैसे सड़क के किनारे बिजली के खम्भे भी मुझे अर्थपूर्ण नेत्रों से देख रहे हैं। यहाँ तक कि लखनऊ की बनी हुई सुराहियों ने भी, जो ठेले पर लदी हुई जा रही थीं, जैसे मुँह खोल-कर मेरा स्वागत किया।

मुझे शंका होती है कि आप शायद मेरी बातों का विश्वास न करके हँसें। परन्तु यह बातें वास्तव में हँसने से नहीं बल्कि रेडियो पर पहली बार ब्रॉडकास्ट करने से सम्बन्ध रखती हैं!

तांगा रेडियो हाउस के सामने ही पहुँच कर रुका। कृष्णचन्द्र साहब की पत्र का उत्तर न देने की तरकीब विफल हो गई। अन्दर मेरा संदेश पाकर उन्हें बाहर निकल कर मेरा स्वागत करना पड़ा। फिर वह मुझे अपने साथ घर ले गए। वहाँ नित्य-क्रियाओं से मुक्त होकर कुछ देर विश्राम करने के पश्चात रेडियो हाउस वापस आया। ख़ुद भी चाहा, और कृष्ण चन्द्र साहब ने भी ब्रॉडकास्ट करने के कमरों को अन्दर से दिखाने की इच्छा प्रकट की। जो दो चीज़ें बहुतायत से नज़र आईं वह थीं रंग-बिरंगी औरतें और भिन्न-भिन्न

प्रकार के तार। मैं सोचने लगा, अपनी नासमझी से मैं रेडियो को बेतार का तार समझे बैठा था। लेकिन यहाँ से अधिक तार शायद ही कहीं और देख पड़े थे। स्त्रियों को देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि रेडियो वह लोक है जहाँ पुरुषों से अधिक स्त्रियाँ होती हैं।

एक कमरे में झाँककर देखा। कुछ पढ़े-लिखे लोग झूम-झूम कर और आगे पग बढ़ा-बढ़ा कर 'माइक' के अन्दर कुछ कह रहे थे, जैसे देहाती औरतें लड़ते समय एक दूसरे को झपट-झपट कर गालियाँ देती हैं। कमरे में तरह तरह की चीज़ें फैली हुई थीं। दो आदमी मिट्टी के बड़े नाद और कूँड़े "थप-थप थप-थप" पीट रहे थे। मेरे दोस्त ने मुझसे बताया—"देहाती प्रोग्राम ब्रॉडकास्ट हो रहा है।" मैंने कहा—"लेकिन यह लोग तो पढ़े-लिखे लगते हैं?" उनसे मालूम हुआ कि देहाती भाषा में इस काम को भी शहरी लोग ही पूरा करते हैं। कमरे के अन्दर जिस प्रकार की वस्तुएँ और यंत्र फैले हुये थे उनके कारण पूरा कमरा जैसे भारतवर्ष का चित्र लग रहा था। मैं सोच रहा था, क्या अच्छा होता यदि इस कमरे के द्वार पर "हमारा भारतवर्ष" लिखा होता।

एक दूसरे कमरे में अच्छी भली औरतें रो धो कर कोलाहल कर रही थीं। मालूम हुआ देहाती नारियों के लिये ब्रॉडकास्ट होने के वास्ते ड्रामे का 'रिहर्सल' हो रहा है। मैंने सोचा, मानव जीवन के दुख दर्द की कहानी का क्या ही मज़ाक़ बनता है यहाँ पर।

इसी तरह और चीज़ें देखीं। इतने में एक महाशय बहुत से कागज़-पत्र लिये आ गये और कुछ बातचीत तथा प्रश्नोत्तर के पश्चात् यह तय पाया कि मेरी 'बातचीत' का भी 'रिहर्सल' हो जाना चाहिये। और अब यहीं से मेरी मुसीबतों की घड़ी आरम्भ होती है। हम लोगों ने फिर उस ख़ास कमरे में प्रवेश किया जिसमें से केवल 'बातचीत' ब्रॉडकास्ट होती हैं। कमरा निहायत ही सुसज्जित था। एक ओर प्रान्त के गवर्नर साहब एक चित्र में सामने 'माइक' रक्खे

भाषण दे रहे थे। दूसरी ओर प्रान्त के प्रधान मंत्री महोदय यही कार्य कर रहे थे। इसी तरह और भी कई महानुभाव चित्रों में दीवारों पर लटके हुये नज़र आये। अब तो रही सही हिम्मत भी जाती रही। जिस मेज़ पर बैठकर भाषण देना था वह फांसी का तख़्ता लगने लगी। फांसी का निजी अनुभव तो न था, किन्तु ऐसा लगा कि बस फांसी की तैयारियाँ हो रही हैं। सामने दीवार पर जो घड़ी लगी थी उसमें केवल कुछ खड़ी पड़ी रेखायें दृष्टिगत हुईं। यह और ग़ज़ब! बीच में समय देखना चाहिये तो वह भी असम्भव। मालूम हुआ इस प्रकार की घड़ियां ख़ासतौर से रेडियो के ही वास्ते बनती हैं, जो केवल मिनट बताती हैं। सामने जो 'माइक' रक्खा था वह भी कुछ विचित्र प्रकार का ही था, यानी अच्छा ख़ासा मधु-मक्खियों का छत्ता सा लग रहा था।

कमरा बन्द हो जाने के बाद वह दम घुटने वाली स्तब्धता छा गई कि बस ऐसा अनुभव करने लगा कि जैसे बिना पानी के कुएँ में पड़ा हूँ। खाँसी बुरी तरह सताने लगी। गला सूख सूख कर फँसा जाता था। 'रिहर्सल' के बाद मालूम हुआ कि भाषण एक मिनट छोटा था। जल्दी में चाहा कि दो चार पंक्तियाँ और घसीट लूँ। परन्तु ऐसे वातावरण में लेखनी भी अभागी क्या चलती। चलती कम काग़ज़ में घुसती ज़्यादा थी। देखते-देखते मौत की वह घड़ी भी आ गई। जो महाशय 'ब्रॉडकास्ट' कराने वाले थे उन्होने झट एक यंत्र उठाकर अपने दोनों कानों पर उलझा लिया और फिर मेरी हस्तलिपि के पन्नों को काग़ज़ की पृथक-पृथक दफ़्तियों पर कीलों से जड़ने लगे। मैंने पूछा कि आख़िर यह व्यवस्था क्यों? उन्होंने बताया कि यदि पन्ने पलटते समय हिल गए तो दूर सुनने वालों को ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे रेडियो हाउस में पहाड़ उलट पड़ा मैंने कहा—"अगर ऐसी बात है तो अवश्य इन्हें अच्छी तरह जड़ दीजिये। घर पर बीबी बच्चे सुनते होंगे......"

वाक्य पूरा न हो पाया था कि एकदम उन्होंने घड़ी की ओर देख-कर अपने होटों पर उँगली रखकर मुझे चुप कर दिया। दिल ने कहा—'मर गया'। मेज़ पर लाल रोशनी हुई। पढ़ने के लिये उन्होंने भूत की तरह हाथ से संकेत किया। गला रुँधा, जीभ लड़खड़ाई, किन्तु जब झझक खुली तो भाषण ख़त्म हो गया था। लाल रोशनी की जगह मेज़ पर हरी रोशनी हुई। उन्होंने कानों पर से यंत्र उतारते हुये कहा—"एक मिनट पहले समाप्त हुआ।"

घड़ी की ओर देखना चाहा कि दाहिनी ओर से एक और महोदय ने मेरे सामने बहुत से काग़ज़-पत्र रख दिये—"बहुत ख़ूब!" जब तक 'बहुत ख़ूब' और इस नई मुसीबत का अर्थ समझता तब तक उन्होंने मुझसे दो जगह हस्ताक्षर करा लिये थे। दाहिने हाथ से चेक देते हुये उन्होंने मेरे सामने बायाँ हाथ फैला दिया। जेब से इकन्नी निकाल कर उनके हाथ पर रक्खी थी कि पहले साहब मेरे वास्ते कमरे का पट खोल कर खड़े हो गये। जल्दी से बाहर निकला। दो क़दम आगे चलकर मैंने उनसे अपनी 'बातचीत' के बारे में पूछना चाहा। मुड़कर देखा तो वे दोनों महाशय ग़ायब हो चुके थे। परेशान होकर तेज़ क़दम मैं चलने लगा। रेडियो हाउस की सीढ़ियों पर से जिस समय उतर रहा था बाहर बरामदे में 'माइक्रोफ़ोन' गा रहा था—

बहुत बे आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले।

सोच

यह भी क्या जीवन है, सरोजनी बार-बार यही सोचती। बराबर यही सोचा करती और सदैव सोचती रहती। जितना सोचती उतना सोच उसे खाये जाता। सोच बदन में घुन जैसा लग जाता है। कुशल यह था कि सरोजनी को यह नहीं मालूम हो सका था कि वह जिस रोग की मारी मर रही थी वह वास्तव में किसी वस्तु के होने या न होने का दुख न था बल्कि उसको ज़िन्दगी ख़ुद, जो उसके वास्ते हर चीज़ की कमी का रूप धारण कर के प्रगट हुई थी, उसकी चिन्ता का कारण थी। सरोजनी के लिये यह अच्छा ही था, वरना जिस दिन उसे यह मालूम हो जाता कि वास्तव में जिस रोग के घुन उसे लग गये थे वह चिन्ता थी तो उस सोच के रोग से वह कभी न बचती। तात्पर्य यह कि सरोजनी जब मानसिक उधेड़-बुन में लगी रहती तो कभी यह मानने को तैयार न होती कि अपने सोच का कारण वह ख़ुद थी।

सरोज बाबू सदैव उसे समझाते कि उसकी सारी चिन्ता और दुख का कारण वह ख़ुद थी क्योंकि उसे हर छोटी बड़ी बात पर अकारण सोच करने की जैसी आदत पड़ गई थी। किन्तु सरोजनी

उस बात को मानती भी कैसे जब कि कई साल तक अपनी उस ज़िन्दगी को लगातार देखते रहने के बाद वह उस नतीजे पर पहुँची थी। सरोजनी के लिये अच्छा ही था जो उसने सरोज बाबू की बात कभी न मानी। सरोज बाबू तो ऐसा कहकर उसे विष ही पिलाये दे रहे थे।

× ×

इस बीच में मकड़े ने खिड़की के कोने में घूमकर अपने आठ पहल के मकान में जाले के चार तार और डाल दिये थे। बीच में मकड़ी भारी पेट लिये बैठी भन-भन कर रही थी। और सरोजनी नेत्र जमाये एक टक देख रही थी। उसका बायाँ हाथ रह रहकर बच्चे की जाँघ पर अब भी पड़ता, हालाँकि बच्चा रोते-रोते गोद में कब का सो गया था। सरोजनी के नेत्र खुले और ख़ामोश थे जिससे मालूम होता कि वह जाग रही थी। जाले के बीच में मोटी मकड़ी भन-भन कर रही थी। मकड़ा हर क्षण घूमकर जाले के आठ पहले मकान में एक तार और डाल देता। सरोजनी बैठी जीवन का वह खेल एक टक देख रही थी।

'कदाचित तुमने कभी भूलकर ही सोचा होता कि हम भी आख़िर आदमी थे। दुख-सुख हमको भी मार जिला सकता था। हम भी सुख से सुखी और दुख से दुखी होते थे। किन्तु तुमने अपने जीवन के आगे मेरे जीने को कुछ समझा ही नहीं। आज मैं किससे इसका रोना रोऊँ।'

मकड़े ने जाले के आठ पहल के मकान में चक्कर लगाकर जाले का एक और ताना तान दिया था और मकड़ी बैठी निरन्तर भन भन कर रही थी। सरोजनी का हाथ जहाँ देर से पड़ा था वहाँ हाथ के नीचे बच्चे की जाँघ पसीने से भीग गई थी।

'लेकिन तुम्हारी ज़िन्दगी उसी रफ़्तार से चलती रही जो तुमने अपने और दूसरों के लिए ज़रूरी समझ रक्खा था। मैं तुमसे

कहती रह गई कि दुनिया ऐसे ही रहेगी, समय अपनी ही चाल चलेगा, तुम उसकी चाल बढ़ा नहीं सकते। इसलिए यदि हो सके तो तनिक अपनी ओर भी ध्यान दो। अपनी ओर ध्यान देकर तुम मेरी ओर भी ध्यान देते और इसकी ओर भी।'

सरोजनी का दाहिना हाथ, जो बच्चे की जाँघ पर जैसे बेजान पड़ा था, अपनी जगह से उठा और उठकर फिर वहीं गिरता यदि उसी समय उसे इसकी चेतना न हो गई होती कि बच्चा सो गया था और अब और थपकियाँ देने से वह सोने के बजाय जाग जायगा। उसकी जाँघ पर से उसने आँचल से पसीना पोंछ दिया। फिर आँचल का कोना अपनी आँखों तक ले गयी। किन्तु आँसू कहाँ थे जो पोंछती।

मकड़ा जाला बुनकर अपना मकान आधे-से ज़्यादा तैयार कर चुका था। मकड़ी बीच में बैठी भन-भन कर रही थी।

× ×

सरोज बाबू से सरोजनी को जो भी शिकायत रही हो किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सरोज बाबू ने अपना जीवन सफल और सरोजनी को सुखी बनाने का प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में ऐसा कौन होगा जो जान-बूझकर अपना जीवन असफल बनाना चाहेगा। सरोज बाबू सदैव सोचते और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि जीवन सफल अथवा असफल बनाया नहीं जाता, बल्कि वह सफल अथवा असफल हो जाता है। हर आदमी अपनी अच्छी या बुरी प्रकृति अथवा प्रवृत्ति का बन्दी होकर रहना चाहता है और आमतौर से रहता है। अन्त में परिणाम यह होता है कि इनमें से कुछ के जीवन सफल होते हैं और कुछ के असफल। यह बात इस वजह से भी सत्य है कि हर व्यक्ति जो जीवन सफल बनाना चाहता है उसकी ज़िन्दगी हमेशा कामयाब ही नहीं होती। बल्कि किफ़ायत और कंजूसी करते-करते लोग दरिद्र हो जाते हैं। सच बोलते और ईमानदारी करते-करते लोग साहु-महाजनों के हाथ बिक

जाते हैं। मेहनत और परिश्रम से काम करनेवाले मर जाते हैं, किन्तु सदैव अपनी सन्तानों के लिये 'पास-बुक' में रुपया नहीं छोड़ जाते। सरोज बाबू ने जहाँ यह सब देखा था वहाँ उन्होंने यह भी अपनी ही आँखों देखा कि जुआरी लखपती होकर मरते हैं, और मक्कार ज़िन्दगी मुहर्रिरी से आरम्भ करके उसे रियासत की दीवानी पर समाप्त करते हैं। जाल करने और धोखा देनेवाले बहुधा सफल रहते हैं। सब कर्मों ही का फल है! सरोज बाबू जब भी अपनी ज़िन्दगी और सरोजनी से परेशान होकर सोचते इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि जीवन सफल बनाया नहीं जाता, वह सफल अथवा असफल हो जाता है।

रहा यह कि यदि वे सरोजनी को संतुष्ट और प्रसन्न करने का प्रयत्न करते भी तो क्या करते। सरोजनी चाहती भी तो कोई एक चीज़ न थी। वह खाने को खाना, पहनने को कपड़ा, रहने को मकान, जलाने को लकड़ी और पीसने को मसाला चाहती थी। साथ-साथ वह यह भी चाहती थी कि उसे ज़ोकाम न हो, बच्चा दुबला या बीमार न हो, मोहल्ले में हल्ला न मचे, रातें अँधेरी न हों, चाँदनी उजियाली न हो, स्वयं सरोजनी ऐसी न हो और सरोज बाबू जैसे थे वैसे न हों, इत्यादि इत्यादि। अतएव सरोज बाबू बार-बार यही सोचते कि अगर मर-खपकर किसी तरह वे जीवन सफल बना भी लें, अथवा ज़िन्दगी में सूखी लकड़ी, गरम मसाले, ठंढे कपड़े और बीमारियों को अच्छा करनेवाली दवाइयाँ एकत्रित कर लें, तब भी सरोजनी को प्रसन्न करने के लिये सूर्य निकलने का समय कैसे बदल सकते थे, वृक्षों को छोटा या बड़ा कैसे कर सकते थे, सरोजनी को कैसे कुछ और बना सकते थे या स्वयं को क्योंकर बदल सकते थे। जब वे इस तरह सोचते तो अन्त में परेशान होकर सदैव इसी निष्कर्ष पर पहुँचते—यह ज़िन्दगी है, यह ऐसी ही होती है और ऐसी ही रहती है। और जब वे इतने उदास नतीजे

पर पहुँचते तो उस समय उन्हें अपने जीवन का वह पूरा नाटक याद आने लगता जिसके ख़ास-ख़ास हिस्सों को जैसे उनके कानों में कोई ऊँचे स्वर में सुनाने लगता—

तुम्हारा जीवन कब और कैसे आरम्भ हुआ यह तुम नहीं जानते। कब और कहाँ समाप्त होगा यह भी तुम नहीं जान सकते। तुम जो जानते हो वह बस यह है कि नवें दर्जे तक तुम खाते-पीते और पढ़ते लिखते रहे इसलिये कि तुम्हारे माता-पिता की ऐसी इच्छा और इतनी सामर्थ्य थी। फिर-जीवन चक्र चला। तुम समझते हो कि उसे तुमने चलाया। किन्तु यह तुम क्या जानो कि इस दुनियाँ और इस जीवन का चक्र कौन चलाता है। अतः जो कुछ तुम समझते हो वह तुम भी समझने के लिये बाध्य हो और वह तुमसे कोई छीन नहीं सकता।

दर्जे में काशीनाथ तुमसे दूर बैठता था। परन्तु उससे दूर रहकर भी तुम उसकी ओर खिंचने से अपने को रोक न सके। तुम सोचते हो कि काशीनाथ की ओर जो तुम इतने खिंच गये वह उसके व्यक्तित्व का आकर्षण था। जो भी हो। चौड़े और उभरे हुये सीने वाले काशीनाथ ने जब तुम्हें अपनी ओर खिंचते देखा तो उसने तुम्हें परखना चाहा, क्योंकि काशीनाथ की राय मे मानव मानव नहीं बल्कि लोहे अथवा लकड़ी के टुकड़े होते थे। इसलिये जिस तरह लोहे अथवा लकड़ी को ठोंक-पीटकर उसको जिस योग्य पाया जाता है उससे वैसा काम लिया जाता है, उसी तरह वह आदमी को परखकर उसको जिस योग्य समझता था उससे वैसा काम लेता था। जैसा उसका काम था उसमें आवश्यकता हर प्रकार की चीज़ों की थी। उसे मिट्टी की ज़रूरत थी, लकड़ी और लोहे की भी। चुनांचे उसने तुम्हें लकड़ी समझकर लकड़ी की तरह परखना चाहा, क्योंकि लकड़ी भी तरह-तरह की होती है। कोई शीशम होती है तो कोई आम। आम जलाने में अच्छी होती है, मगर ज़मीन पर पटकने पर खट से टूट जाती है। इमली की

लकड़ी ख़ूब जलती है, नीम की जलती नहीं किन्तु उसमें दीमक नहीं लगती। लकड़ियों मे साखू सौ साल खड़ा, सौ साल पड़ा रहता और कहते हैं सौ साल में सड़ता है। मनुष्य भी लकड़ी की तरह होता है। इसलिये उसकी भी पहचान लकड़ी की तरह होनी चाहिये, काशीनाथ का ऐसा विचार था।

काशीनाथ जब उस भूतवाली कोठी के पीछे आम के सूने बाग़ वाली कोठरी में अकेले रहता था तो उसने तुमसे बताया कि उससे अगर तुम मिलना चाहो तो रात के नौ बजे ही मिल सकते थे। भूतवाली बड़ी कोठी जब से बनी तभी से ख़ाली पड़ी थी। उसमें न कभी कोई रहा और न किसी के रहने की हिम्मत हुई। पीछे आम के वृक्षों का अंधेरा बाग़ था, जो चारदीवारी से घिरा हुआ था। बाग़ के बीच में काशीनाथ उस उजाड़ कोठरी में रहता था जो माली के रहने के लिये बनी थी। मालूम नहीं काशीनाथ वहाँ अपने काम की सुविधा के उद्देश्य से शहर से इतनी दूर रहता था या इस वजह से कि कोठरी में रहने का उसे किराया नहीं देना पड़ता था। बहरहाल जब उसने तुमसे कहा कि नौ बजे रात को ही तुम उससे मिल सकते थे तो तुमने यही समझा कि शेष समय काशीनाथ काम के कारण कही और रहता था। यदि तुम्हें कुछ संदेह हो सकता था तो वह संदेह भी उस रात्रि ही को दूर हुआ जब भूल से नौ बजे के बजाय दस बजे रात्रि को उस अंधेरी कोठरी में दाख़िल होकर तुमने दियासलाई जलाने के बाद देखा कि काशीनाथ बीच कमरे में पैर ऊपर किये आँखों के सामने श्रीमद्भगवद्गीता खोले सर के बल खड़ा था। वह दृश्य देखकर तुम्हारी तो जान ही निकल गयी। परन्तु जब काशीनाथ ने तुमसे बतलाया कि उस तरह अंधेरे में शीर्षासन करते समय वह उलटी आँखों से भगवद्गीता पढ़ने का प्रयत्न कर रहा था तब तुम्हारी समझ में आया कि जो व्यक्ति इस तरह अपनी शारीरिक तथा आध्यात्मिक शक्ति को बर्छी की नोक की

तरह तेज़ कर रहा हो वह रात के नौ बजे के अतिरिक्त किसी और समय तुमसे मिल भी कैसे सकता। वास्तव में काशीनाथ तुम्हें लकड़ी की तरह ज़मीन पर पटककर परख रहा था, यह तुम्हें प्लेग के रोगी काशीनाथ के लिये अंधेरी रातों में बारह दिन तक खाना पहुँचाने के बाद मालूम हुआ, जब मौत के मुँह से निकलकर उस ने मुस्कराकर तुमसे कहा—"तुम डरे नहीं।"

लकड़ी से काम उसकी जाति पहचान कर ही लिया जाता है। अतः जब ख़बर आई कि शेखर दादा पुलिस की गोली के शिकार बन गये तो वह काम तुम्हारे ही सुपुर्द किया गया कि तुम १२४ मील साइकिल से जाकर इसका पता चलाओ कि जो व्यक्ति मारा गया था वह शेखर दादा ही थे अथवा कोई और था। रेल से कोई नहीं जा सकता था इसलिये कि उस प्रकार की ख़बर अख़बारों में निकलवाना पुलिस की चाल भी हो सकती थी। जब रेल से ख़बर का सच-झूठ मालूम करने कोई रवाना होता तो उसे गिरफ़्तार कर लिया जाता। इस तरह सारे क्रान्तिकारियों का भेद मिल जाता। जब तुम २४८ मील साइकिल चलाकर यह ख़बर लाये कि पुलिस के मुक़ाबले में पिस्तौल चलाता हुआ जो शेर ज़मीन पर गिरा था वह शेखर ही था तो यह आवश्यक हो गया कि उसकी जगह उम्मीद सिंह ले ले और उम्मीद सिंह की जगह काशीनाथ को दे दी जाय, और काशी-नाथ की आम के बाग़वाली कोठरी तुम्हारे सपुर्द कर दी जाय।

अंधेरी कोठरी में जब तुम सिर के बल खड़ा होना सीख रहे थे और श्रीमदभगवद्गीता और स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकें पढ़ रहे थे उसी समय भूतवाली कोठी में वह बैंक खुला। बैंक खुलने से पहले भूतवाली कोठी में लक्ष्मी की पूजा हुई। उस पूजा और प्रार्थना के कारण मालूम नहीं कोठी छोड़कर भूत भागा या नहीं। परन्तु यह सोचकर कि जहाँ लक्ष्मी रहेंगी वहाँ भूत नहीं रह सकता बैंक के मैनेजर साहब कोठी के पीछेवाले हिस्से में रहने के लिये आ गये।

उस समय सरोजनी का नाम सरोजनी नहीं था। उसका असली नाम मुन्नी था। उसका नाम सरोज तो तुमने अपनी सुविधा के लिये रक्खा। मुन्नी के पिता को भी कहाँ मालूम था कि मुन्नी का नाम सरोज तुमने रक्खा था। बैंक के मैनेजर साहब तो यही समझते थे कि कविता लिखने के लिये मुन्नी ने अपना दूसरा नाम सरोज रख छोड़ा था। उन्हें क्या मालूम कि माली की कोठरी में से स्वामी रामतीर्थ, लाजपतराय, तथा सण्डरलैंड की पुस्तकें लाकर मुन्नी क्रान्तिकारी बन गई थी। उसका नाम सरोज रक्खा गया था सी० आई० डी० को धोखा देने के लिये। वह 'सरोज' केवल धोखे की टट्टी थी। असली सरोज तो तुम थे जो आम के बाग़ की अंधेरी कोठरी में बैठे 'पिकरिक एसिड' के धुएँ उठाया करते थे।

किन्तु तुमने यह न सोचा कि बैंक के मैनेजर के घर में जो धुआँ सरोज के दिल में उठ रहा था वह हर तरह से तुम्हारे जीवन और भविष्य के प्रति अधिक महत्त्व रखता था बनिस्बत तेज़ाब के उस धुएँ के जो तुम्हारी कोठरी में बारह बजे रात के बाद उठता था। तुम 'सरोज' से मिलकर इतने प्रसन्न हुए कि जल्द ही वह तुम्हारे दिल में 'सरोजनी' बन गयी। तुमने सोचा कि जीवन-साथी पाकर तो तुम शत्रु के पैर ही मैदान से उखाड़ दोगे। हिम्मत सिंह ने संकेत किया कि जो कुछ करना सोच-समझकर करना इसलिये कि शेखर दादा अपनी जिन्दगी में सैदव पार्टी में औरतों के आने के विरुद्ध रहे। लेकिन तुमने सबको यह समझाया कि सरोजनी के कारण काम में बड़ी सुविधा मिलेगी। किन्तु जहाँ तुमने हिम्मत सिंह को इस तरह चुप कर दिया वहाँ तुम सरोजनी के दिल को न चुप कर सके, जो तुम्हारे हृदय से निरन्तर मौन बातें करता रहा। तुम उस समय यह नहीं सोच सकते थे कि जो तुम इतनी जल्द सरोजनी से मिलकर एक हो गये थे उसका कारण यह न था कि क्रान्तिकारी कार्य उसके बिना चल नहीं सकता था अथवा उसके

कारण वह काम ज़्यादा तेज़ी से चलने लगा था। सरोजनी के एक इशारे को तुम्हारी आँखों ने दो इस वजह से समझना चाहा कि तुम्हारी ज़िन्दगी ईंट की तरह सख़्त थी, सरोजनी की गुलाब की पंखड़ियों जैसी कोमल, तुम्हारी ज़िन्दगी काँटा थी, उसकी कली थी, तुम्हारी गरल और उसकी सुधा थी।

काशीनाथ ने लकड़ी के जिस टुकड़े को शीशम समझा था वह साखू नहीं सिद्ध हो सकता था। रामतीर्थ और विवेकानन्द के संदेश भी तुमको उस रास्ते पर चलने से न रोक सके जिस पर सरोजनी तुम्हें चलाना चाहती थी। और जब तुमने सरोजनी के आग्रह के उत्तर में शब्द 'हाँ' मुँह से निकाला उस समय भी तुम्हारी अँधेरी कोठरी के ताख़ों पर मैज़िनी के व्याख्यानों, गैरिबाल्डो की क्रान्तिकारी कहानी, बीरा फिगनर की आत्म-कथा और आयर्लैंड की अदालत में रोजर केसमेन्ट के बयान की जिल्दें रक्खी थीं। तुम्हारे माता-पिता ने भी, चाहे वे जहाँ भी रहे हों, तुम्हारे उस 'हाँ' को सुना होगा।

यदि तुम उस समय बंगाल चले गये होते तब भी वह क्रान्तिकारी आग जो वहाँ अचानक भड़क उठी थी तुम्हारे बुझाने से बुझती नहीं। रासबिहारी ने 'पिकरिक एसिड' का जो नुस्ख़ा बंगाल को दिया था वह उस समय भी बहुत जानदार था। परन्तु इतिहास हर नुस्ख़े को बदल देता है। इसलिये वह आग तुम्हारे बंगाल न जाने के बावजूद भी जल्द ही बुझ गयी। किन्तु उससे भी पहले तुम बुझ गये।

काशीनाथ ने दौड़-धूपकर तुम्हें स्वदेशी बैंक में नौकरी दिला दी। यही उसके लिये क्या कम था। तुम्हारे कोट की दाहिनी जेब में अब न रिवाल्वर था और न बाईं में 'सल्फ़्यूरिक एसिड'। तुम दफ़्तर में बैठे दूसरों के 'बैंक बैलेन्सेज़' जोड़ते और घटाते रहते थे। सरोजनी का बदन अब क्रान्तिकारी 'पोस्टरों' से नहीं बल्कि ज़िन्दगी के सोच से भारी रहता था। लड़के का नाम

'क्रान्ति' तुमने रक्खा। लेकिन छः महीने का नन्हा क्रान्ति तुम्हारी बैंक की नौकरी और सरोजनी के भाग्य में क्या क्रान्ति पैदा करता। क्रान्ति का समय असल में बीत चुका था। अब तो जितने दिन तुम्हें जीना था उतने दिन एक रुपया तीन आना अथवा एक रुपया पाँच आना रोज़ कमाना था। जिस दिन तुम टके सेर भिण्डी के बजाय एक आना सेर आलू बाज़ार से लाते वही दिन तुम्हारी ज़िन्दगी में क्रान्तिकारी होता।

× × ×

आवाज़ ख़ामोश हो गयी थी। ज़िन्दगी का चिराग़ बुझ गया था। मकड़ा जाला बुनकर चला गया था। मकड़ी अकेली बैठी भन-भन कर रही थी।

सरोजनी खिड़की के कोने में जाले पर ताकते ताकते अचानक नींद से जाग उठी। पेट में जैसे कुछ कुलमुलाया। एकदम काँप गयी। बच्चे को चारपाई पर लेटा कर ख़ुद पट्टी पर बैठ गई। बैठी रही और सोचती रही। दिल की बात किससे और कैसे कहती।

× × ×

सरोजनी के सोच से सरोज बाबू दफ़्तर में सोचते-सोचते मर गये। लेकिन सरोजनी का सोच न गया। वह यही सोचा करती कि आदमी का पेशा छूट जाय लेकिन उसकी आदत नहीं छूटती। जहाँ क्रान्तिकारी पुस्तकें, पिस्तौल और तेज़ाब सब पीछे छूट गये थे वहाँ सरोज बाबू का संध्या-काल नदी का नहाना नहीं छूटा। कई दिन से तबीयत भारी रह रही थी। हरारत की शिकायत किससे करते। सरोजनी अपने ही जीवन के ज्वर से तप रही थी। इसलिये उससे अपने ज्वर का हाल कहकर वे अपना ज्वर भला क्या कम करते। सरोजनी जहाँ उन्हें और बहुत से काम करने को मना करती वहाँ उसे उनका नदी नहाने जाना भी पसन्द न था। लेकिन वह सोचती, सरोज बाबू उसका कहना मानते ही कहाँ थे जो वह

बात मान लेते।

उस शाम का नहाना उनके लिये काल हो गया। तीव्र ज्वर जब हल्का होता तो वे सोचने की कोशिश करते। परन्तु ज्वर ने दिमाग़ बेकार कर दिया था। जब सोचते तो ऐसा मालूम होता जैसे उनके अन्दर एक डर समा गया है। उसी समय सिरहाने बैठी सरोजनी करुण स्वर में कहती—"तुमसे कहती रह गयी कि नदी का नहाना छोड़ दो—"

सरोज बाबू उस समय सोचते कि यदि वे शाम को नदी में न नहाते तो सरोजनी की दी हुई ज़िन्दगी की हरारत कैसे कम करते। चारपाई पर पड़े-पड़े कमरे के चारों ओर देखते और एक अज्ञात डर से काँप उठते। ज्वर और तीव्र हो जाता और आँखें बन्द हो जातीं।

सरोज बाबू की दशा बिगड़ती ही गयी। माता-पिता बेचारों से जो कुछ हो सकता था उन्होंने किया। किन्तु मरना-जीना किसके बस का हुआ जो उनके बस का होता। जब डाक्टर ने यंत्र से सीना जाँचकर और नाड़ी देख कर कोई दवा नहीं बताई तो सरोज के माँ-बाप ने यही सोचा कि न उसकी ज़िन्दगी में वे कुछ कर सके और न आज उसके मरने में कुछ कर सकते थे।

जिस समय सरोज बाबू के नेत्र सरोजनी के मुख पर से हटकर छत की ओर जाने लगे उनके मुख से केवल इतना सुनाई पड़ा—"सरोजनी मैं और कुछ न कर सका। काशीनाथ—"

× × ×

सरोजनी चारपाई की पट्टी पर से उठी और खिड़की के सामने जाकर खड़ी हो गयी। मकड़ी के जाले में एक बड़ा-सा मक्खा आकर फँस गया था। किन्तु मकड़ी जब तक उसके गिर्द जाला बुनकर उसे अपने जाले में फँसा पाती तब तक मक्खा जाला फाड़कर निकल गया था।

जिस समय सरोज बाबू की लाश आंगन में से उठ रही थी सरोज के छोटे भाई ने ढ़ाई साल के क्रान्ति को लाकर उसके नन्हें हाथ से उस बांस को छुआ दिया जिस पर रखकर चार आदमी सरोज बाबू की मिट्टी बाहर ले जा रहे थे। सरोजनी ने अरथी उठते समय जब यह चाहा कि किवाड़ ज़बरदस्ती खोलकर आँगन में चली आये तो वह केवल इतना देख सकी थी। औरतों ने उसे अन्दर ढकेल बाहर से कुण्डी चढ़ा दी।

जब सरोज बाबू को उस नदी में डालकर लोग लौट आये, जो उन्हें क्रान्तिकारी अंधेरी कोठरी में रहने के समय से पसन्द थी, तो औरतें सरोजनी को पकड़कर आँगन में नहलाने के लिये ले गयीं। जब सरोजनी ने अपना सुहाग धोने के लिये हाथ से पानी का लोटा उठाया तो घर की औरतें भागकर कमरे में छिप गयीं। जिसका पति जीवित होगा वह ऐसा अपशकुन क्यों देखेगी!

जब सरोजनी माथे का सिंदूर धोकर बिना किनारे की साड़ी पहन चुकी तो घर की औरतें आँगन में आयीं। उसे एक कमरे में ले जाकर बैठा दिया। आठ दिन उसी कमरे की भूमि पर सरोजनी पड़ी रही। क्रान्ति को लोगों ने उससे अलग कर दिया था। जब बहुत रोता तो उसे लाकर औरतें सरोजनी का बदन उससे निचुड़वा ले जातीं। दसवें दिन सरोजनी को फिर से रंगीन साड़ी पहनाई गयी, चूड़ियाँ पहनाई गयीं। माथे में सिन्दूर और पैर की उँगलियों में लाल रंग रचाया गया। उसके बाद सिन्दूर फिर से धोया गया। लाल रंग कोयले से रगड़-रगड़कर मिटाया गया। चूड़ियाँ पत्थर से एक-एक करके चूर कर दी गयीं। रंगीन साड़ी उतारकर उसे सफ़ेद साड़ी पहनाई गयी। घर की और औरतों रंगीन साड़ियाँ पहनीं, माँगें सिन्दूर से रंगी, पैर गुलाबी रंग से चमकाये। जिसका मर्द नहीं था उसने वह किया।

जिनके मर्द थे उन्होंने यह किया। सरोजनी हिन्दू घर की विधवा है इसलिये बिना किनारे की सफेद साड़ी पहने सोचती है—दुनिया के मर्द मर जायेंगे, औरतें भी मर जायेंगी, लेकिन यह नहीं मरेगा।

सरोज बाबू की मृत्यु के बाद काशीनाथ जब ज़मानत पर छूटे तो सरोजनी से मिलने आये। बाहर कुछ देर सरोज बाबू के पिता से बातचीत करते रहे। जब उन्होने सरोजनी से मिलने की इच्छा प्रकट की तो उनसे बताया गया कि बाहर का आदमी घर की बहू से नहीं मिल सकता। करते क्या, चुप हो गये।

सरोज बाबू की जो कमाई सरोजनी की किसी भी आवश्यकता को पूरी न कर सकी उसकी क़ीमत का सही अनुभव आज उनके न रहने पर उनके पिता को हो रहा था। पेन्शन इतनी नही थी कि बेचारे घर का ख़र्च चला सकते। छोटा लड़का अभी नौकरी की खोज ही में था। ऐसी अवस्था में सिवाय ख़र्च घटाने के आमदनी बढ़ाने की बात कहाँ सोच सकते। इसलिये कम किराये के मकान की खोज में थे, और इसी सोच में सारा दिन हुक्का पीते-पीते बिता देते। पत्नी अन्दर से बार-बार आकर ड्योढ़ी में खड़ी होकर समझा जातीं—"मकान लेते समय विचार रखना कि पास-पड़ोस में कोई नव-जवान आदमी न हो।"

जिस मुस्तैदी से छोटा भाई नौकरी ढूंढने में लगा था उसे देख कर मालूम होता कि जैसे सरोज बाबू के देहान्त का सबसे अधिक असर उसी पर पड़ा था। भाभी के पास जाकर अक्सर बैठता और ढाढस बँधाने का प्रयत्न करता। माँ को यह बात कम पसन्द आती। चुनांचे मुहल्ले की स्त्रियाँ जब घर में आतीं तो लड़के को सुना-सुनाकर वे कहतीं—"ज्योतिषी ने जन्म-पत्री देखकर सर पीट लिया। अगर हमें ख़बर मिलती तो ऐसी जगह कदापि लड़के का विवाह न होने देती।" घर में आते-जाते छोटा भाई इस प्रकार की बातें सुनता और सुनी को अनसुनी कर देता। माँ पर आश्चर्य करता—कहाँ से

इन्हें भाभी की कुण्डली मिल गई जो पण्डितों को दिखाती फिरती हैं !

× × ×

सोये हुए क्रान्ति के सिरहाने चारपाई पर बैठी सरोजनी सोच रही थी कि आख़िर कब तक वह इस सोच से मरेगी। जब से सरोज बाबू की माँ को यह मालूम हुआ कि सरोजनी के पेट में बच्चा है वे उससे दिन में यदि अधिक नहीं तो दो वार अवश्य पूछतीं कि बच्चा कब तक पैदा होगा। सरोजनी ठीक तारीख़ बता भी कहाँ से देती। इससे वह और कुढ़तीं। अपने मन से उलटा-सीधा हिसाब जोड़कर ड्योढ़ी में जातीं और बूढ़े से कहतीं—"मालूम तो सरोज ही का होता है।"

छोटे भाई की परेशानी और चिन्ता नौकरी पाकर भी न गई। उतने कम वेतन में सरोजनी और उसके बच्चे के लिये कर भी क्या सकता था। जो कुछ पाता बाप को लाकर दे देता। रुपया जब हाथ में आया तो माँ-बाप लड़के की शादी के सोच में पड़े। लड़के ने जब यह सुना तो उस पर वह सोच सवार हुआ कि वह सरोजनी के सारे सोच को भूल गया। और सरोजनी को जब यह मालूम हुआ कि बुढ़िया के अतिरिक्त एक और सुहागिन घर में आ रही है तो इस नये सोच से वह काँपकर रह गई।

मैं कैसे लिखता हूँ—कहानी

कुशल हुई प्रश्न यह पूछा गया कि मैं कैसे लिखता हूँ, वरना यदि यह पूछ लिया गया होता कि आप लिखते क्यों हैं तो कम से कम मेरी, तो दुर्गति हो जाती। जहाँ दुनिया में हज़ारों अन्य काम हैं वहाँ कुछ लोग क़लम घिसना ही अपना पेशा क्यों बना लेते हैं, यह मेरी समझ में भी नहीं आता। यदि क़लम चलाना अपना पेशा बना कर यह लोग अपनी बला से जीते मरते तो किसी को आपत्ति भी न होती। किन्तु कठिनाई उस समय पैदा होती है जब यह लोग लेखक होने के नाते समाज और समय को अन्धा समझ कर रास्ता दिखाने पर उद्यत हो जाते हैं। इस पर मज़ा यह कि अपनी दृष्टि में इस नेहायत ही नेक काम के लिये यह लोग यह भी चाहते हैं कि दुनिया वाले इनके और इनके बच्चों के पेट भरें और उन्हें सम्पन्न रखें। यदि कभी ऐसा नहीं होता तो यह लोग दुनिया को लम्बी जीभ से कोसते और गालियाँ देते हैं, उन्हें गँवार और मूर्ख कहते हैं। ऐसी हालत में इनसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि आख़िर यह लिखते ही क्यों हैं।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि मैं कैसे लिखता हूँ। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं बस ऐसे ही लिखता हूँ जैसे लिखा जाता है। कहने का अर्थ यह कि लेखनी उठाकर काग़ज़ पर चलाने लगता हूँ। क़लम ख़राब अथवा टूटी नहीं होती तो चलती जाती है और मैं उसे चलाता जाता हूँ। बीच बीच में लेखनी रोक कर देखता भी हूँ कि कैसा लिख रहा हूँ। यदि लिखी हुई चीज़ में कुछ तुक दिखलाई पड़ता है तो प्रसन्न होकर और लिखता हूँ, और यदि अधिक तुक नहीं दिखलाई पड़ता तो काग़ज क़लम अलग फेंक छड़ी

उठाकर घूमने निकल जाता हूँ अथवा कोई और काम करने लगता हूँ।

आदमी को करने के बहुत से काम होते हैं। किन्तु अधिकतर लोग कुछ ही काम कर सकते हैं। और काम या तो लोगों को करने आते नहीं या वे करना नहीं चाहते। इसके अतिरिक्त रुचि का भी प्रश्न है। जब जिस काम में जी लगता है उस समय आदमी वही काम करता है। जिसे लिखना आता है वह भी सदैव लिखता ही नहीं रहता। बल्कि जब लिखने की ओर रुचि होती है तभी वह लिखता है। कभी यह भी होता है कि कोई और काम करते समय बरबस लिखने को जी चाहने लगता है। स्वयं मेरे साथ बहुधा ऐसा हुआ कि टहलते टहलते लिखने को जी चाहने लगा। कहानियाँ बहुधा मैंने ऐसे ही लिखीं।

वैसे जो पहली कहानी मैंने लिखी वह एक महोदय से बाज़ी लगा कर लिखी थी। उनका यह विचार था कि मैं कहानी नहीं लिख सकता था। उनकी दृष्टि में कहानी लिखने के लिये एक प्रकार की प्राकृतिक प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है। यद्यपि विचार मेरा भी कुछ इसी प्रकार का था किन्तु मुक़ाबले में आदमी नदी में कूद पड़ता है। इसलिये शाम ही से मैं कहानी लिखने बैठ गया। किन्तु एक-आध वाक्य लिखने के बाद लेखनी चलाये न चले। सोचता रहा। किन्तु सोचता भी क्या ? कुछ होता तब तो सोचता। कभी 'हीरो' बनूँ, कभी 'हीरोइन' बन जाऊँ। परन्तु गाड़ी किसी सूरत से आगे न बढ़े। खाना वाना भी न खाया। बिजली की रोशनी सिरहाने रखवाई। एक डिबिया सिगरेट तकिये के पास रक्खी गई। नौकर को बाहर निकाल कर किवाड़ बन्द कर लिया। इस तरह सायंकाल ही से घर का चिराग़ बाहर बुझा कर अन्दर कहानी लिखने बैठा। इसका विचार न रहा कि कब तक और क्या लिखता रहा। रात अधिक नहीं रही, यह उस समय मालूम हुआ जब मैं कहानी के बीच में सोफ़े

पर कुत्ता बना बैठा भूँक रहा था और मुझ से बहुत दूर किसी दरबे की अंधकारमय नीरवता में कोई मुर्ग़ा आँखें बन्द किये बाँग दे रहा था।

लोगों का कहना है कि बुढ़ापे का शौक़ भी बुरा होता है। यानी जब एक बार पैदा हो जाता है तो समाप्त होना नहीं जानता। किन्तु वह बुढ़ापा नहीं बल्कि मेरी जवानी थी। और जवानी का शौक़ आदमी को किस किस घाट पानी नहीं पिलवाता यह आप जानते ही हैं। चुनांचे जहाँ मैंने अन्य रोग पाल रक्खे थे वहाँ यह नया रोग भी पैदा हुआ। जब देखिये किसी कहानी की उधेड़-बुन में लगा हूँ। टहलने जाता हूँ तो जेब में नोट-बुक लिये। जो चीज़ ज़रा अजीब लगती है तुरन्त उसके विषय में अपनी अजीब मानसिक प्रतिक्रिया नोट कर लेता हूँ।

यह बात ध्यान देने की है। मेरी दृष्टि में कहानियों के लिये जग और जीवन की साधारण वस्तुएँ अर्थहीन ही नहीं बल्कि बहुधा अनावश्यक होती हैं। केवल असाधारण वस्तुएँ आमतौर से दिमाग़ पर असर करती हैं। अथवा यदि साधारण वस्तुओं के विषय में मानसिक प्रतिक्रिया ही किसी कारण असाधारण होती है तो वह भी लिखने वाले के दिमाग़ पर असर छोड़ जाती है। उदाहरण स्वरूप, यदि सड़क के किनारे बहुत से पेड़-पौधे लगे हैं और उन पर फूल खिले हैं तो कहानी लिखने वाले के लिये यह कोई विशेष बात न हुई। किन्तु यदि किसी ऋतु में सारे पौधों और वृक्षों पर फूल नहीं हैं और केवल एक वृक्ष ऐसा है जिस पर पत्तियाँ नहीं किन्तु एक नंगी डाली पर लाल रंग का एक बड़ा सा फूल लटक रहा है तो वह फूल लिखने वाले के मस्तिष्क के जैसे तार जगा देगा। कुछ बातें शीघ्र ही दिमाग़ या डायरी में नोट करके लिखने वाला जो घर लौटेगा तो सम्भवतः वह 'सेमर' नाम की कहानी लिख डालेगा। स्वयं मेरे साथ एक बार ऐसा हो चुका है।

यदि आप पूछें कि क्या कहानी लिखने वालों और दूसरे आदमियों में कोई अन्तर होता है तो मैं ज़ोर देकर कहूँगा कि अन्तर है और बहुत बड़ा अन्तर है। उदाहरण स्वरूप, उस सेमर के फूल को यदि कोई और देखता तो उसे पहले सेमर की रुई का ख़याल आता, फिर उसे अपनी तकिया याद आती जिसमें रुई दबकर बहुत कम हो गई थी। यह साधारण मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया की बात है, जो बाह्य जगत को अपनी आवश्यकताओं से अलग रखकर सोच सकता ही नहीं।

मान लीजिये कि इसके बजाय वह आदमी किसी मात्रा में आदर्शवादी है। किन्तु वह आदर्शवादी होकर भी सेमर का पेड़ देखकर अधिक से अधिक यही सोचेगा कि सड़क के किनारे ऐसे वृक्ष नहीं लगाना चाहिये जो इस ऋतु में इस बुरी तरह नंगे हो जायें। बल्कि सड़कों के किनारे सुन्दर और हरे भरे पेड़-पौधे होने चाहिये। इसके बाद, चूँकि वह आदमी कल्पनाशील है, अपने मानसिक संसार में उस सेमर के पेड़ को एक फूल की जगह हज़ारों लाखों फूलों से लाद देगा ताकि वृक्ष फूलों से लदकर अच्छा लगने लगे। किन्तु कहानीकार होने के कारण मेरा सिर चूँकि ज़्यादा फिरा हुआ था इसलिये उस नंगे सेमर के वृक्ष में मैंने पूरे समाज को देखा और उस अकेले लाल फूल की लाली में अगणित प्राणियों का रक्त देख कर प्रगतिशील कलाकार बन बैठा। और यदि मैं प्रगतिशील लेखक न होता तो ऐसा कुछ न सोचकर उस पुष्प को अपनी प्रियतमा के अनुरूप पाकर गद्य की भाषा में कविता करता और इस तरह आत्मा और परमात्मा को मिलाकर कहानी लिखकर तैयार कर देता।

स्वर्गीय मुंशी प्रेमचन्द से एक बार उपन्यासकार के विषय पर बोलने को कहा गया। भाषण के बीच मुंशी जी के मुख से जब मैंने यह सुना कि उपन्यासकार को एक मात्रा में आवारा

(Vagabond) भी होना चाहिये तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैंने सोचा कि मुंशी जी शायद मज़ाक़कर रहे हैं। किन्तु आज जब प्रेमचन्द जी की उस बात को सोचता हूँ तो आश्चर्य इस पर होता है कि उस सरलता से वे कितनी महत्वपूर्ण बात कह गये थे। वास्तव में उपन्यास तथा कहानी लिखने के लिये आदमी की तबियत में थोड़ी आवारगी अति आवश्यक है। मानसिक उच्छृंखलता तो कला के किसी भी विभाग में निपुणता प्राप्त करने के लिये अनिवार्य है। किन्तु उपन्यास अथवा कहानी लिखने वाले के लिये इस मानसिक उच्छृंखलता के अतिरिक्त स्वयं उसके जीवन में आवारगी का अनुभव एक मात्रा में आवश्यक होता है। यथार्थ यह है कि यदि यह रुचि और मन की उच्छृंखलता आदमी में न हो तो वह ऐसी बेढंगी तथा अनावश्यक वस्तुओं से दिलचस्पी रक्खे ही क्यों। मेहनत और ईमानदारी अथवा ग़ैर ईमानदारी से पैसा कमाकर अपना और अपने कुटुम्ब का पेट भरना ही क्या कम आवश्यक काम है जीवन के लिये। पृथ्वी पर रहते हुये पंख बाँधकर मानव जीवन की सीमाओं से बाहर उड़ना ज़मीन की ज़िन्दगी सफल बनाने के लिये आवश्यक नहीं। और जो ऐसा करता है वह आवारा नहीं तो और क्या हो सकता है दुनिया की दृष्टि में ? किन्तु जहाँ दूसरी कलाओं के लिये यह मानसिक उच्छृंखलता ही काफ़ी होती है वहाँ उपन्यास और कहानी के लिये आवारगी जीवन में व्यक्तिगत अनुभव के रूप में आवश्यक होती है।

अतः स्वयं अपनी कहानी सुनाते हुये मुझे यह बताना है कि कहानी लिखने का शौक़ ज्यों ज्यों बढ़ता गया मेरा साहित्यिक प्रयत्न भी उसके साथ बढ़ता गया। एक के बाद दूसरी, कहानियों पर कहानियाँ मैंने लिखीं। लिखने से भी अधिक पढ़ता था। जितना पढ़ता उतना ही अपनी लिखी हुई चीज़ पोच, लचर अथवा अपूर्ण लगती। जितना ही लिखता उतना लिखने का अभ्यास बढ़ता और लेखनी

में शक्ति आती। यह अवश्य था कि बहुधा दस पंक्तियाँ लिख कर पाँच तक काट देनी पड़ती थीं।

बहर हाल इस लिखने पढ़ने से समझ में भी वृद्धि होने लगी। हर चीज़ अब एक नए दृष्टिकोण से देखने की जैसे आदत सी हो गई। रहता इसी दुनिया में पहले भी था, किन्तु दुनिया अब बदली बदली सी लगने लगी। दुख-सुख पहले भी थे और अब भी हैं। किन्तु पहले और अब के दुख-सुख में बड़ा अन्तर मालूम होता है। कहानियों में दुःख सुख के रेखाचित्र खींचते खींचते अपने दुख-सुख खिलौने जैसे लगने लगे। लिखने वाले के लिये मैं यह सबसे बड़ा और आवश्यक अनुभव समझता हूँ। एक आध उपन्यास अथवा दस-बीस कहानियाँ लिख कर पैसे या नाम कमा लेना एक बात है। किन्तु इस लिखने से यदि लिखने वाले की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती तो ऐसा लिखना व्यर्थ है।

कुछ लोग लिखने से पहले कहानी का एक ढाँचा बना लेते हैं और फिर उसी ढाँचे के सहारे लिखना आरम्भ करते हैं। कुछ ऐसे भी लिखने वाले हैं जो देखी अथवा सुनी हुई घटनाओं के आधार पर, जगहों और लोगों के नाम बदल कर, कहानियाँ तैयार कर लेते हैं। मेरी आदत ऐसी नहीं, और सम्भवतः इसी कारण मेरी कहानियों में बहुधा कोई 'प्लाट' नहीं होता। मैं जब किसी चीज़ से बहुत प्रभावित होता हूँ तब ही उस प्रभाव के आधीन कहानी लिखता हूँ।

उदाहरण स्वरूप आपको अपनी एक आपबीती सुनाता हूँ। कुछ दिन की बात है। मैं टहल कर लौट रहा था। रात का समय था। इस तरफ़ से एक ठेला जा रहा था। ठेला ख़ाली था इसलिए केवल दो आदमी उसे पीछे से धक्का देकर लिये जा रहे थे। तीसरा आदमी ठेले पर, बदन अंगौछे से ढंके, अपनी गोद में एक दीप छिपाये बैठा था। अंगौछा दीपक को हवा के झोंके से बचाने का काम कर रहा था। मज़दूर वैसे ही दीपक का सहारा बना

था जैसे दीप-दान दीपक के जलते हुये प्रकाश का सहारा होता है। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार था इसलिये कि वह हवाई • हमले का समय था। किन्तु पुलिस से बचने के लिये ठेले पर बत्ती आवश्यक थी। एक तरह से अंगौछा दीपक के चारों ओर 'हवाई हमले से बचाव' का काम भी कर रहा था।

जब मैंने उस दृश्य पर मनन किया तो जैसे पूँजीवाद का पूरा चित्र मेरे नेत्रों के सामने आ गया। चारों ओर अँधेरा था। केवल मज़दूर के हाथ में दीप जल रहा था। अतएव घर लौट कर मैं एक कहानी लिखने लगा जिसका नाम रक्खा 'ब्लैक आउट'। लड़ाई समाप्त हो गई किन्तु वह कहानी समाप्त न हो सकी।

जिस तरह आदमी भिन्न प्रकृति तथा प्रवृत्ति के होते हैं उसी तरह उनके लिखने के ढङ्ग भी अलग होते हैं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कोई एक तरीक़ा ही सही है और सब ग़लत हैं। अपने अनुभव के आधार पर केवल इतना कह सकता हूँ कि लिखने के लिए पढ़ना आवश्यक है, और आदमी जितना अधिक लिखता है उतना ही अच्छा लिखने की सम्भावना रखता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जो कुछ लिखा जाय उसे छपा ही दिया जाय। रोटी की विवशता आदमी से जो न कराये, वरना मैं स्वयं किसी चीज़ को बहुत दिन बाद और उसे बार बार दोहरा कर और साफ़ करके प्रकाशित कराने के पक्ष में हूँ।

कुछ लोग बहुत कम आयु में लिखना आरम्भ कर देते हैं। मैंने स्वयं सम्भवतः २७ या २८ साल की अवस्था में लिखना आरम्भ किया था। ऐसी हालत में कोई बात ज़ोर देकर नहीं कह सकता। फिर भी मेरा ऐसा विचार है कि लिखना जहाँ तक हो कम आयु में आरम्भ नहीं करना चाहिये। विशेष रूप से कहानी अथवा उपन्यास के लिये दिल, दिमाग़ और अनुभवों की प्रौढ़ता की बहुत आवश्यकता होती है। जिस तरह ईंट आग में पकती है उसी तरह जब आदमी जीवन की

अग्नि में साल साल तपता है तब उसकी आँखों और दिमाग़ में वह रोशनी आती है जो उसे वस्तुओ और मनुष्यों को देखने और पहचानने की वह शक्ति प्रदान करती है जिसकी सहायता से वह कोई बड़ी चीज़ लिख सकता है।

लिखने वाले को ईमानदार भी होना चाहिये। यह ईमानदारी जग-जीवन को देखने और समझने में बरतना चाहिये, उनके विषय में लिखते समय वरतना चाहिये और स्वयं अपने साथ बरतना चाहिये। जिस कला की विशेषता ईमानदारी तथा सहृदयता नहीं है वह बड़ी कला कभी हो ही नहीं सकती। ईमानदारी के अतिरिक्त सहानुभूति दूसरी विशेषता है जो किसी कलाकार में होना आवश्यक है। यदि प्रेमचन्द आज के सारे लिखने वालों पर भारी पड़ते हैं तो इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द को जग और जीवन से सहानुभूति, प्रेम और सम्मान के अतिरिक्त आत्मीयता भी थी। ये विशेषताएँ आजकल के लिखने वालों में कम मिलती हैं।

आँखों का निमन्त्रण

अविनाश ने आज ज़बान तो खोली किन्तु दिल खोलते समय संकोच करने लगा। ऐसा प्रतीत होता कि जैसे किसी आन्तरिक लज्जा से उसके नेत्र झुके जा रहे थे। उसे अधिक हँसते बोलते तो मैंने कभी भी न पाया। लेकिन इतना गम्भीर तथा दुखी भी उसे शायद ही कभी किसी ने देखा हो।

जब अविनाश चुप रहा तो मुझे चुप रहना ही था। लेकिन मैंने जब देखा कि अपने से वह कदापि कुछ और न बतायेगा तो मैंने ही उससे पूछा—"तुमने यह नहीं वताया कि उसकी तुम्हारी भेंट कैसे हुई।"

आँखें ऊपर उठाकर उसने मेरी ओर देखा, फिर सर नीचा कर लिया। धीरे धीरे वह अपनी बात कहता जाता और मैं सुनता जाता था। वातावरण पर का जादू जैसा प्रभाव पड़ रहा था। मैं ऐसा अनुभव कर रहा था कि जैसे मेरे ही अन्दर से कोई वोल रहा था। कभी यह भी संदेह होता कि आवाज़ कहीं ऊपर से आ रही थी—

होली की छुट्टियों में मैं घर नहीं जाता था। होस्टल में भी

लड़कों के साथ होली नहीं खेलता था। होली के दिन, होस्टल और कालेज की दुनिया से दूर जाकर, आज़ाद पार्क में उस सरो के पेड़ के नीचे बैठ जाता जो सन् ५८ में मरे हुये गोरे सिपाही की क़ब्र पर रखवाली करता था। हाथ में पुस्तक लिये इस तरह मैं सरो की छाँह में बैठा-बैठा होली का दिन बिता देता। शाम को होस्टल उसी समय लौटता जब होली का हुल्लड़ समाप्त हो गया रहता।

केवल संयोग ही था जो पिछले साल होली के अवसर पर मैं घर गया। और वह भी केवल संयोग ही था जो उस समय वह मेरे यहाँ उपस्थित थी।

पिता उसके ज़मींदार थे। परन्तु देहात में रहते हुये भी उन्होंने उसे घर पर पढ़ाकर मिडिल तक हिन्दी में योग्यता करा दी थी। किन्तु अब उसकी अवस्था चूँकि ऐसी हो चुकी थी कि विवाह का प्रश्न जल्द ही उठता इसलिये माँ ने सोचा कि शादी से पहले यदि लड़की कुछ दिनों शहर में रहकर नागरिक जीवन के रूप-रंग से भी परिचित हो जाय तो क्या ही अच्छा हो। वैसे उससे पहले वह शहर अक्सर आई-गई थी। लेकिन अब शादी का सवाल था इसलिये विशेष कर सिलाई इत्यादि सिखलाने के विचार से उसके घर वालों ने 'कुछ दिनों के लिये उसे मेरे भाई साहब के यहाँ भेज दिया था।

वह देहात में रहती अवश्य थी किन्तु उसे देहाती कोई नहीं कह सकता था। बल्कि मैंने तो यह देखा कि देहात में रहते हुये नागरिक जीवन की चेतना जितनी उसे थी उतनी शहर में रहने वाली लड़कियाँ अपने शहरी जीवन से प्रभावित न थीं। पहनने ओढ़ने में वह जिस सावधानी से काम लेती थी उससे यह साफ़ मालूम होता कि उसे इसका विशेष विचार रहता था कि शहर में रह कर साज-सिंगार की विधियों की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। रंग उसका गोरा तो नहीं कहा जा सकता था, किन्तु उसे देखकर कोई साँवला भी नहीं

कह सकता था। उसका हँसना सबको अच्छा लगता, क्योंकि हँसते समय उसके नेत्र भी जैसे मुस्कराते थे। उसकी बड़ी बड़ी चञ्चल आँखें वैसे ही नाचा और मुस्कराया करतीं जैसे वह ख़ुद जहाँ रहती नाचती और हँसती रहती।

मालूम नहीं क्यों वह शुरू ही से मुझसे दिलचस्पी रखने लगी। मैंने सोचा एक दो दिन बाद जब वह मुझसे परिचित हो जायगी तो मेरे प्रति उसकी जिज्ञासा आप ही समाप्त हो जायगी। किन्तु जब मुझे यह मालूम हुआ कि घर की लड़कियों से मेरी प्रशंसा करने की जैसे उसकी आदत पड़ गई थी तो मुझे भी चिन्ता हुआ। मैं यों भी लड़कियों से बहुत घबराता था। लेकिन जब मुझे यह मालूम हुआ कि वह मुझसे विशेष रूप से प्रसन्न है तब तो उसके सामने मेरी आँखे उठाये न उठें। औरों के साथ जब मैं बैठा रहूँ और वह वहाँ आ जाय तो मै ऐसा अनुभव करूँ कि जैसे लज्जा के मारे मैं पृथ्वी में गड़ा जा रहा हूँ। मेरे लिये परेशानी की जो ख़ास बात थी वह यह कि मेरे मुँह से कोई वाक्य निकला नहीं कि वह उसे पूरा कर देती। और यदि मैं जल्दी में बात पूरी कह भी जाता तो उसका समर्थन करना या हाँ में हाँ मिलाना जैसे उसकी दूसरी 'डियूटी' थी। उसकी इन हरकतों के कारण घर की लड़कियाँ उसका और मेरा दोनों का मज़ाक़ उड़ातीं। मैं ऐसा अनुभव करता कि जैसे पूरी बौछार मेरे ही ऊपर है। मेरी घबराहट बहुत मात्रा में अनिवार्य इस कारण भी थी कि उसकी उन हरकतों की वजह से मैं ऐसा अनुभव करता कि घर वाले शायद यह सोचते हों कि उसके लड़कपन और अल्हड़पन का कारण मैं था।

अतः अभी मुश्किल से दो या ढाई दिन घर पर रहा हूँगा कि एक दिन दोपहर को वह मेरे कमरे में चली आई। मैं यूँ ही चारपाई पर पड़ा कुछ सोच रहा था। उधर जब ध्यान गया तो देखा वह सिरहाने खड़ी है। जैसा उसका स्वभाव था, बस यों ही खड़ी मुस्करा

रही थी। मेरी समझ में न आया कि क्या करूँ। वह खड़ी निरन्तर मुस्करा रही थी। किन्तु कुछ न कुछ करना ही था। इसलिये जब मैं भी घूम कर उसकी ओर देखने लगा तो उसके नेत्र लज्जा से आप ही आप झुक गये।

जब मैं संभल कर पलंग पर उठ बैठा तो देखा कि उसके हाथ में एक किताब और एक कापी भी है। अब तो उसका वहाँ उस हालत में होना मेरे लिये एक अनबूझ पहेली हो गई। मारे परेशानी और घबराहट के मैं लाल हुआ जा रहा था। बदन अन्दर ऐसा काँप रहा था कि जैसे जूड़ी आने वाली हो। जब उसने जी भर के मुझे तंग कर लिया तो मुस्करा कर आप ही पलंग की पट्टी पर, मुझसे तनिक दूर हट कर, बैठ गई। बैठने को तो मेरे पास ही बैठी। लेकिन पास बैठ कर भी मुझसे जो दूरी निभा रही थी वह मुझे विशेष रूप से खटक रही थी। आख़िर मैं जाति के बाहर तो था नहीं जो मुझसे ऐसा बर्ताव किया जाता। घर में और लोग भी तो थे। परन्तु मेरे पास बैठ कर और कोई तो उस तरह मुझे ज़लील नहीं करता था।

किन्तु असल कहानी तो अब आरम्भ होने को थी। मालूम नहीं उसकी मर्ज़ी से अथवा घर मे किसी और के कहने से मैं उसका अंग्रेज़ी का मास्टर नियुक्त हुआ था।

उसको पढ़ाना स्वय मेरे लिये एक बड़ा इम्तहान सिद्ध हुआ। वैसे मैं कहाँ का मास्टर था जो किसी को भी पढ़ा सकता। फिर 'रोमन' अक्षरों में लिफ़ाफ़ों पर पता लिखने वाली सुकुमारी को अंग्रेज़ी पढ़ाना किसी के लिये भी क्या आसान काम होता। जब बड़ी बड़ी निडर आँखें ऊपर करके किसी शब्द का अर्थ पूछती तो मेरी निगाहें ऐसी लड़खड़ाती कि संभालते संभालते भी मैं न जाने कहाँ से कहाँ जाकर गिरता। फिर मैं सोचता—भाड़ में जाय ऐसी पढ़ाई जो इस तरह हर मिनट मुझे ही फ़ल-पास किये देती है।

बहरहाल वह पढ़ाई-लिखाई का सिलसिला ज़्यादा कामयाब साबित न हुआ। वह घर में जाकर रोज़ रिपोर्ट करती कि मालूम नहीं भाई साहब क्यों खोये खोये से रहते हैं। इसके बाद मेरी सीधाई और अच्छाई की प्रशंसा करने लगती। एक दिन जब ड्योढ़ी में खड़े होकर अन्दर की बातचीत मैंने सुनी तो सोचा कि कुशल इसी में है कि अब यहाँ से भाग चलूं वरना यह मास्टरी तो मिटा कर ही छोड़ेगी। उस समय यूनिवर्सिटी में और दर्जों के इम्तहान हो रहे थे। इसलिये होली की छुट्टी समाप्त हो जाने के बाद भी मैं घर पर ठहरा रह गया था।

परन्तु जब घर का यह हाल देखा तो घर वालों को दूसरे ही दिन अपने जाने की सूचना कर दी। इसका प्रभाव उस पर विचित्र पड़ा। पहले तो कुछ उदास सी देख पड़ी। फिर जो मेरी सेवा पर उतर आई तो दूसरे मेरे नज़दीक फटकने भी न पाते। अन्दर जाता नहीं कि मेरा कोई न कोई काम करने अथवा रसोई में खाना निकालने पहुँच जाती। एक दिन ऐसे ही जब मैं चौके में बैठा दोपहर का खाना खा रहा था तो वह मिट्टी से पोती हुई नर्म ज़मीन पर चमचे से कुछ लिखने लगी। जब उसकी और मेरी आँखें एक हो गईं तो उसने चमचे से लिखावट झट मिटा दी। मैं बस इतना देख पाया कि मेरे नाम का प्रथम भाग अभी लिखा जा सका था। एक क्षण के लिये वह कल्पना अच्छी लगी कि वह बैठी-बैठी मेरा नाम लिखा करती है। लेकिन जो अच्छा न लगा वह उसका उस तत्परता से मेरा नाम मिटाना था। अपनी आँखों के सामने उस तरह अपना नाम निशान मिटने का दुख सम्भवतः बहुत दिन तक रहता यदि उसी दिन शाम, को बरामदे में से जाते समय संयोग से मैंने नहाने के कमरे में उसका गुनगुनाना न सुन लिया होता—

खेल उस कमसिन ने खेला नाम ले लेकर मेरा,
हाथ से तुरबत बनाई पैर से बरबाद की।

तब मैंने समझा कि वह उस का खेल था और वह मेरी क़ब्र थी जो बना कर उस तरह मिटाई जा रही थी। सम्भवतः वह भी उसके लिये खेल ही था जो उस दिन दोपहर को जब मैं अपने कमरे में लेटा था दो बीड़े पान लेकर आई और उन्हें अचानक मेरे मुँह में रख दिया। मैंने पान के बीड़ों को दांतों के नीचे दबाया नहीं कि उसने पान घसीट लिये। जिस समय मैं बचे बीड़ों को मुँह में संभाल रहा था वह कटे हुये पानों को अपने मुँह में रखती हँस कर कमरे के बाहर निकल गई।

इतनी बात कह कर अविनाश चुप हो गया। मुझसे भी अब कुछ कहते न बने। बन्द कमरे में केवल ख़ामोशी की लहरे तैर रही थी। अविनाश के नेत्र झुके हुये थे। मैं आश्चर्य कर रहा था—मैंने इसे क्या समझ रक्खा था और वास्तव में यह क्या निकला। इस नये प्रकाश में अविनाश को देख कर यह सोच रहा था कि आदमी के जीवन के भी क्या क्या पहलू होते हैं। सोचता सोचता कमरे के स्तब्ध वातावरण में मैं खोया जा रहा था। बैठा आश्चर्य करता रहा कि अविनाश अपने दिल पर इतना बड़ा बोझ लिये कैसे फिरता है।

ख़ामोशी से चौंक कर मैंने पूछा—"तब क्या हुआ ?"

आँखें नीचे गड़ाये हुये उसने उत्तर दिया—"रात की गाड़ी से मैं आने वाला था। चलने से पहले उसने कहा—'तो आप जा रहे हैं—'। मैंने कहा—'हाँ'। मुख दूसरी ओर करते हुये, जैसे मुझसे कुछ छिपाने का प्रयत्न कर रही हो, उसने पूछा—'फिर कब—।' मेरे मुँह से 'देखो कब तक—' सुनने से पहले वह एक दम चल दी और आँचल से आँखे पोंछती हुई कमरे से बाहर निकल गई।"

पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा मैं सोच रहा था—कौन कहाँ रहता है, कौन किसका होता है। अविनाश की कहानी सुनते सुनते मेरा जी भर आया। परन्तु उसका स्वभाव जानते हुये मैंने उचित न समझा कि उसे उस तरह देर तक रहने दिया जाय। अतएव उसका

जी बहलाने के उद्देश्य से मैं यूँ ही अकारण हँसने लगा। मुझे हँसते देख कर वह भी हँसने लगा। किन्तु मैं उसके स्वभाव से परिचित था इसलिये सोचा कि इतना जल्द वह उस प्रभाव से मुक्त न हो सकेगा। चुनांचे उसका चित्त बदलने के उद्देश्य से मैंने कहा—यार, इन बातों में क्या रक्खा है। ऐसा तो सभी के साथ कभी न कभी होता है। मैं तो आदमी के जीवन के लिये यह भी आवश्यक अनुभव समझता हूँ। बिल्कुल ऐसा ही मेरे साथ एक बार हुआ। तुम भी सुनोगे तो क्या कहोगे—

जाड़ों में बड़े दिन की छुट्टियाँ शुरू हुईं थीं। मैं घर जा रहा था। समय से पहले स्टेशन पहुँच गया। ड्योढ़े दर्जे में एक तरफ़ बिस्तर लगा कर लेट रहा। सामने वाली 'बर्थ' पर एक मारवाड़ी अपना बिस्तर लगाये पड़ा था। इस बीच एक भले आदमी बाल-बच्चों सहित डब्बे में उपस्थित हुये। दोनों दरवाज़ों के बीच वाली 'बर्थ' ख़ाली थी। उन्होंने उसी पर अपना अधिकार जमाया। सामान अन्दर आने के बाद १६-१७ साल की एक लड़की भी, छोटी बहन को उँगली पकड़ाये, अन्दर दाख़िल हुई। उन दोनों के अतिरिक्त माँ की गोद में एक बच्चा भी था। मुसाफ़िरों से अधिक उनका सामान था, जिसे कुलियों ने देखते देखते डब्बे में ऊपर नीचे भर कर डब्बे को लाद दिया। जब सामान रक्खा जा चुका तो बैठने का सवाल पैदा हुआ। पति पत्नी ख़ाली 'बर्थ' पर बैठ गये, और उनके साथ उनकी बड़ी लड़की भी। छोटी लड़की, जिसकी आयु लगभग ६-७ वर्ष रही होगी, बीच में खड़ी रही। इसलिये मैंने उसे अपने पैर के पास जो जगह ख़ाली थी वहाँ बैठने को संकेत किया। यों शायद वह मेरे पास न बैठती क्योंकि मेरे कहने के बावजूद हिचकिचा रही थी। किन्तु उसी समय बड़ी बहिन का इशारा पाकर मेरे पैर के पास फाटक से दबक कर बैठ गई। अभी उन लोगों का बिछौना इत्यादि लग ही रहा था कि गाड़ी चल दी।

ट्रेन के सफ़र का सुख उसी को मिलता है जिसको कम से कम लेटने की जगह प्राप्त हो। सफ़र में जैसी मेरी आदत है मैंने सिगरेट जलाई, डिबिया सिरहाने रक्खी और तकिये के नीचे से उपन्यास निकाल कर पढ़ने लगा। यह तो नहीं कह सकता कि बिल्कुल पढ़ता ही रहा क्योंकि यदि केवल पढ़ने ही में लग जाता तो यह कैसे बता सकता कि डब्बे में और क्या हो रहा था। फिर ऐसे वातावरण में पढ़ने पाता भी कैसे, जहाँ और भाव-भंगियों के अतिरिक्त अनपढ़ मारवाड़ी की निरन्तर बकवास मारे डाल रही थी। परन्तु जब हाथ में किताब लेकर पढ़ने बैठ गया था तो उसे फिर किस बहाने अलग रख देता। अतएव न पढ़ते हुये भी किसी तरह पढ़ता रहा। यह तो जब किताब उठाकर डाल ही दी तब मालूम हुआ कि डब्बे में मेरे अतिरिक्त कोई और भी पढ़ रहा था।

अभागा मारवाड़ी उस समय उन भले आदमी से यहाँ तक पूछ चुका था कि लड़की किस दर्जे में पढ़ती थी, छोटी लड़की ने अभी पढ़ना आरम्भ किया या नहीं, इत्यादि इत्यादि। उसके लिये इतना काफ़ी न था कि वे लोग कौन और कहाँ के रहने वाले थे, कहाँ जा रहे थे। मैं सोच रहा था कि यह अनपढ़, जिसको स्वयं पढ़ाई लिखाई से दूर का भी नाता नहीं, सबकी पढ़ाई के पीछे आख़िर क्यों हाथ धोकर पड़ गया है। मेरी पढाई लिखाई मुझे इस बात की इजाज़त देती न थी कि अनजान व्यक्तियों की बात-चीत में भाग लेने लगता। बल्कि बिना जान पहचान के लोगों से बातचीत भी करना मैं सभ्यता के प्रतिकूल समझता था। मगर मेरी परेशानी का पारा सबसे अधिक ऊँचाई पर उस समय पहुँचा जब मैंने सुना कि मारवाड़ी बातों के सिलसिले में यह भी बेमाँगी राय दिये डाल रहा था कि जज साहब को जल्द ही अपनी लड़की के विवाह की समस्या का भी सामना करना पड़ेगा। उस समय जो मैंने आँखें बचाकर देखा तो शादी होने

मारवाड़ी के मुख से लड़की के विवाह की चर्चा सुनकर मैं जैसे अपनी सारी ख़ुशी ही खो बैठा। युवती को भी वह बात क्या पसन्द आती। इसलिये शर्म के मारे उसने अपनी गर्दन खिड़की के बाहर कर ली। मुझसे भी चूँकि मारवाड़ी की बातें सुनी न जा रही थी इसलिये मैं भी गर्दन बाहर निकाल कर इधर-उधर देखने लगा। वह काम अच्छा न हुआ था इसकी चेतना लड़की के नेत्रों से नेत्र मिल कर हुई। किन्तु गाड़ी में हम दोनों एक ही तरफ़ बैठे थे इसलिये करते भी क्या। जब भी डब्बे के बाहर सर निकालते नेत्रों के मिलने के ख़तरे का सामना करना पड़ता।

उस समय निगाहें एक हो जाने के बाद घबराहट में सर अन्दर करना ही पड़ा। परन्तु लड़की की आँखों से बचने के लिये जो सर अन्दर किया तो मारवाड़ी से आँखें चार हो गईं। झुँझलाहट में उसकी ओर से जो मुँह मोड़ना चाहा तो मेरी शामत ही आ गई।

"बाबूजी, आप क्या करते हैं?"

मारवाड़ी पूछ बैठा। मुझे इतना बुरा लगा कि मैं उसके प्रश्न का उत्तर भी न देता, यदि उसी समय जज साहब, उनकी धर्म-पत्नी और मेरी निगाहें एक दूसरे से टकरा न गईं होतीं। विवश होकर अदालत में अपराधी की तरह फ़िर मुझे सब कुछ बता देना पड़ा।

उसके बाद मारवाड़ी ने बिजली की बत्ती जलाकर मेरे विषय में वह जिरह शुरू की कि मुझे नंगा ही कर के छोड़ता यदि उसी समय यह मालूम कर के कि मैं एक भले घर का लड़का था और यूनिवर्सिटी में पढ़ता था पढ़े लिखे जज साहब ने मेरी जान न बचाई होती। मेरी परेशानी को भाँपते हुये उन्होंने बात ऐसी बदल दी कि उस समय बात किसी तरह टल ही गई। मगर मारवाड़ी भी कोई ऐसा वैसा जीव तो था नहीं। वह भी अपना आख़िरी दाँव चल ही कर माना। उसने जब जज साहब के कुटुम्ब की दिलचस्पी मुझमें

बढ़ती देखी तो आँखे घुमाकर एक ही नज़र से मुझे, जज साहब, उनकी स्त्री और लड़की को देखते हुये मुस्करा कर कहा—"तो आप लोग तो एक ही हैं।" जज साहब पढ़े लिखे और सभ्य जन थे, वरना मारवाड़ी ने तो मेरी और उस लड़की की शादी भी उसी डब्बे ही में करा दी होती।

उसका परिणाम यह हुआ कि बेचारी लड़की अब मुझसे ज़रूरत से ज़्यादा शर्माने लगी। यह मालूम करके कि मै यूनिवर्सिटी का विद्यार्थी था जज साहब अपनी पढ़ाई के दिनों की स्मृति ताज़ा करने लगे। पढ़ने-लिखने और कालेज यूनिवर्सिटी की बात छिड़ जाने से मारवाड़ी की ज़बान पर जैसे ताला पड़ गया था। इसलिये वह शाम ही से कम्बल में मुँह ढक कर सो रहा। इधर हम लोग अच्छी ख़ासी बेतकल्लुफ़ी से बातें करते रहे। जज साहब की पत्नी भी पति के पढाई के दिनों की दास्तान सुन कर मन ही मन प्रसन्न हो रहीं थीं। मैं अपनी जगह से खिसकता खिसकता उन लोगो के बिल्कुल समीप पहुँच गया था। बातें हम लोग ऐसे कर रहे थे कि जैसे पुराने जान पहचानी हों। इस बीच मारवाड़ी के चुप हो जाने के पश्चात् अब उसकी नाक अपना काम आरम्भ करने की तैयारी कर रही थी।

हम लोग देर तक हँसते और बातें करते रहे। यदि बातें भी न करते तो क्या करते। डब्बे में इतनी जगह तो थी नहीं कि मारवाड़ी की तरह जज साहब के घर वाले भी शाम ही से पड़ कर सो रहते। जल्द नींद आने की जिनकी अवस्था थी वे तो सो ही गये थे—जज साहब के दोनों बच्चे और ढलती आयु का मारवाड़ी। लेकिन अभागे मारवाड़ी ने सो कर और मर कर भी हम लोगों को चैन न लेने दिया। उसकी नाक की आवाज़ धीरे-धीरे अब पूरे डब्बे में गूंजने लगी थी। लड़की जब नाक की आवाज़ सुनती तो मुझे देख कर अपना मुस्कराना रोकने लगती। मैं लज्जित होकर जज साहब की ओर देख कर हँस देता। किन्तु न जाने लड़की को क्या

सूझी थी जो उसने इस दरमियान में मारवाड़ी की नाक की आवाज़ और मेरे बीच एक हास्यमय सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। मुझे अब उस मज़ाक़ से घबराहट होने लगी थी। और कुछ देर बाद जब मैंने यह देखा कि मारवाड़ी की नाक बोले या न बोले वह आँखें बचा कर मेरी ओर अवश्य देख लेती थी तो मेरी परेशानी और बढ़ी। क्या ही बड़ी-बड़ी आँखें थीं उसकी। धीरे- धीरे मैं उन आँखों और जज साहब दोनों से डरने लगा था।

अविनाश चुप बातें सुनता रहा।

मालूम नहीं मेरी परेशानी देख कर अथवा कुछ और सोच कर जज साहब बोले—"बिट्टी को नींद आ रही होगी। खाना खा लेना चाहिये।" उनकी धर्म-पत्नी ने उनके बिचार का समर्थन किया—"जी हाँ, मैं कहने वाली ही थी। देर हो रही है आपको भी—" इतना कह कर वह उठीं और नीचे से डोलची घसीटने लगीं, जिसमें कटोरदान रक्खा था। लड़की ने उठ कर उनका हाथ बटाया।

खाने पीने का सामान होते देख कर जज साहब ने मुझे संकेत करके पूछा—"क्यों, आपने भी तो नहीं खाया? बातों ही में रह गये।" मैं उस प्रश्न के लिये तैयार न था। इसलिये घबराहट में सिगरेट जलाते हुये उत्तर दिया—"जी नहीं, धन्यवाद। रात में खाने की मेरी आदत नहीं।"

मेरी तरह जज साहब भी बौखलाये तो थे नहीं। शब्द 'धन्यवाद' पर मुस्कराते हुये उन्होंने जैसे बात पकड़ ली—"यह तो आपने अजीब ही बात कही। तो क्या रात को आप खाना खाते ही नहीं?" उस समय लड़की उन बड़ी बड़ी आँखों से जैसे मुझे खाने का निमंत्रण दे रही थी। मैंने लज्जित होकर उत्तर दिया—"जी नहीं, मेरा मतलब सफ़र से था—"

जो वाक्य पूरा न हो सका उसे कोई महत्व ही क्या देता। देखते देखते कटोरदान के ढक्कन में दो पराठे और तरकारियाँ रख कर

मेरे सामने रख दिया गया। मैं खा रहा था और सोच रहा था।

पानी का गिलास उठाने के लिये वह आगे बढ़ी। मैंने चाहा कि लपक कर गिलास मैं ख़ुद उठा लूँ। यह तो मेरा उसका सर टकराने के बाद मालूम हुआ कि वह गिलास मेरे अतिरिक्त किसी और के लिये भी उठाया जा सकता था। किन्तु जब गिलास का पानी छलक गया था तो गिलास मुझको उसे देना ही था। हम दोनों के चेहरे लाल होते देख कर जज साहब ने पराठे का टुकड़ा कूँचते हुये गम्भीरता से कहा—"क्या हर्ज है।" मैं गिलास का पानी पीते समय पानी पानी हो रहा था।

हाथ मुँह धो कर हम लोग बैठे थे। जज साहब की स्त्री सामने पानदान फैलाये पान बनाने लगीं। उन्होंने पान बनाकर दो बीड़े जज साहब को दिये और, कुछ पान बीच की उँगलियों में दबाकर, दो बीड़े मुझे देने को अपनी लड़की को दिये, इसलिये कि मेरे समीप वही बैठी थी। मैं अपनी जगह पर बैठा, सामने बक्स पर पैर फैलाये, सिगरेट का गोल गोल धुआँ मुँह से निकालते हुये ऊपर रोशनी की ओर देख रहा था। इसलिये पूरी परिस्थिति तब समझ में आई जब युवती को सामने हाथ में पान के बीड़े लिये खड़ी देख कर मैं चौंक पड़ा। उसकी और मेरी आँखें उस समय इस बुरी तरह एक दूसरे से उलझ गईं थीं कि उन नेत्रों से मुक्त होना कठिन हो गया। माता-पिता की ओर पीठ किये खड़ी वह जैसे मेरी दुर्दशा पर मुस्करा रही थी। मैंने झट एक ओर से सर निकाल कर जज साहब से पान न खाने की अपनी मजबूरी प्रकट की। किन्तु मौक़ा पाकर वह क्यों चूकते—"वाह साहब, आप तो अच्छे मिले। सिगरेट पीते हैं और पान नहीं खाते ?" कह कर हँसने लगे। उनकी स्त्री पति की हाज़िर-जवाबी पर मुस्करा रही थीं और लड़की शायद मेरी मूर्खता पर हँस रही थी। पर मैं अपनी बात पर अड़ा रहा। इसलिये उसने पान ले जाकर माँ को दे दिये। उनका मुँह आप ही भरा था।

इसलिए पानदान बन्द करके मुँह का पान सँभालते हुये उन्होंने कठिनाई से कहा—"ले जाओ तुम खा डालो।" मैं लेटा हुआ अपनी कम्बख़्ती पर कुढ़ रहा था—उसके हाथ से फिर पान कहाँ मिलेंगे !

कितनी ही विवशता क्यों न हो खाने के बाद सोना पड़ता ही है। जगह न होने पर भी गोद में बच्चा लिये जज साहब की स्त्री पैर समेट कर पड़ रही थीं। जज साहब उनके सिरहाने डब्बे की दीवार से सर लगाये आँखें मूँदे पड़े थे। मेरी 'बर्थ' पर पैर के पास छोटी लड़की पैर फैला कर सो गई थी। जहाँ मेरी 'बर्थ' ख़तम होती थी वहीं अपनी माँ के पास बड़ी लड़की बैठी कोई पत्रिका पढ़ रही थी। मैं अपनी पढ़ाई लिखाई समाप्त किये अपनी जगह आँखें बन्द किये पड़ा था। कहने का मतलब यह कि बारह बजे रात के बाद मेरे और उसके अतिरिक्त डब्बे में सभी सो रहे थे।

सोना मैं भी चाहता था। उतनी रात गये कौन नहीं सोना चाहता। किन्तु मेरी कठिनाई यह थी कि उसी डब्बे में जब वे दोनों बड़े बड़े नयन जाग रहे थे तो मैं कैसे सो सकता।

पढ़ने को पढ़ रही थी किन्तु मालूम नहीं पढ़ या क्या कर रही थी। जब मैं उसकी ओर देखता उसे अपनी ही ओर देखते पाता। मेरे देखते ही पढ़ने लग जाती।

खाना खाने के पश्चात् पैरों पर लिहाफ़ डाल कर मैंने भी सोने की तैयारी की थी। बल्कि जब जज साहब की आँखें खुली थीं तो मैंने अपनी आँखें मूँद भी ली थीं। किन्तु बिना नींद के आख़िर कब तक आँखें बन्द किये रहता। थक कर आँखें खोलनी पड़ीं, बावजूद इस नाज़ुक प.लू के कि उस समय मेरे और उसके अतिरिक्त डब्बे में सभी सो रहे थे।

लेकिन इस तरह कब तक पड़ा पड़ा रोशनी ताकता रहता। इसलिये उसके पढ़ने से लज्जित होकर मैंने भी अपनी किताब

तकिये के नीचे से निकाली। अब हम दोनो पुस्तक और पत्रिका के पीछे से न चाहते हुये भी आँख-मिचौनी खेलने लगे। उस समय उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की ख़ूबसूरत बेचैनी अंकित थी। देखते देखते परिस्थिति मेरे लिये किसी क़दर नाज़ुक होती जा रही थी।

पैरों पर कम्बल डाले वह बैठी थी। थोड़ी थोड़ी देर पर ओवर-कोट की जेब से रूमाल निकालती और रेशमी रूमाल से पतले पतले ओठों को अकारण पोंछती। कभी यों ही रूमाल गाल से लगा कर आँखें पत्रिका में गड़ाये देर तक बैठी रह जाती। उस समय उसकी अंगूठी का हीरा बिजली की रोशनी में इस तरह चमकता कि उसकी असीम चमक में मेरी आँखों की रोशनी बुझने लगती। अंगूठी, कर्णफूल और नाक की कील, तीनों के पत्थर हरे रंग के थे। तीनों आभूषण पन्ने के जड़ाव के एक 'सेट' जैसे लग रहे थे। जब मैं पत्थर के उन तीनों टुकड़ों को देखता तो मेरी आत्मा एक त्रिकोण में घिर जाती। पथरीली हरी रोशनी के तीनो टुकड़ों से बनने वाले त्रिकोण की चकाचौंध में मेरे नेत्रों के ठहरने के लिये केवल एक ही स्थान रह जाता—उसका बायाँ कपोल, जिसका ज़्यादा हिस्सा रेशमी रूमाल से ढका होता। घुँघराले बालों का काला गुच्छा रेशमी रूमाल को छूता होता। उस त्रिकोण से जब मुक्त होता तो घुँघराले बालों के गुच्छे में मैं उलझ जाता। और जब उससे छुटकारा मिलता तो अपने को एक और त्रिकोण में घिरा हुआ पाता, जिसके एक कोने पर थे जज साहब, दूसरे पर उनकी धर्म-पत्नी और तीसरे पर सोया मारवाड़ी।

मालूम नहीं वह नाटक कब तक चलता रहा। ठीक इस कारण नहीं बतला सकता कि बीच बीच में विस्मृति के ऐसे दौरे मेरे ऊपर पड़ते कि मुझे यह न मालूम होता कि कितना समय बीत गया। केवल उसे देखता और सोचता रहा। बस इतना याद है कि

उस समय वह अपने पैर मेरे 'बर्थ' के दूसरे सिरे पर रक्खे बैठी थी। उसने हाथ जेब में डाला। दूसरे हाथ से खिसकता हुआ कम्बल संभालने लगा। मैंने समझा उसे सर्दी लग रही है। इसलिये अपने लिहाफ़ का कोना उसकी ओर बढ़ाना चाहा। उसकी मुस्कराती हुई तीव्र दृष्टि तुरत उस छोटी लड़की की ओर गई जो मेरे उसके बीच सो रही थी। तब मुझे भी अपनी ग़लती का ख़्याल हुआ। माँ की ओर देखते हुये मेरा लिहाफ़ उसने अपने पैर के पास से हटा दिया। अपनी मूर्खता को सोच कर मैं और लज्जित हुआ।

कुछ देर चुप बैठी रही। वही गाल से रेशमी रूमाल लगा कर पत्रिका पढ़ने की अदा। फिर उसने इधर उधर देखा। मैंने ऐसा अनुभव किया कि मानो वह कुछ कहना चाहती है। इसलिये मैंने भी अपने को तैयार ही रक्खा। वह आगे की ओर बढ़ी। मैं भी अपनी जगह से खिसका। उसने बायाँ हाथ बढ़ा कर, दाहिनी ओर माता-पिता को देखते हुये, मुझे पान के दो बीड़े पकड़ा दिये। उसके हाथ से पान लेते समय मैंने उसकी बीच वाली उंगली पकड़ ली। मुस्कराते हुये एक क्षण के लिये उसने मेरी ओर ऐसे देखा जैसे उसकी सुन्दरता उंगली छुड़ाने के लिये भीख माँग रही थी।

उंगली छोड़ कर मैं अपनी जगह सावधान हो कर बैठा पान कूँच रहा था कि इतने में मेरी नज़र जज साहब की ओर गई। उनके सोये हुये चेहरे को देख कर मैं एक दम सहम गया।

मौन अपनी जगह पर बैठी उसी तरह पत्रिका पढ़ती रही। रह रह कर सोते हुओं को देखती फिर मुझे देख कर पढ़ने लगती। मुझे जिस बात की चिन्ता हो रही थी वह यह थी कि उसका मुस्कराना क्यों समाप्त हो गया था। इतनी गम्भीर लग रही थी कि उसे देख कर मेरी सारी ख़ुशी समाप्त होने लगी। थोड़ी देर बाद उसने जेब से कोई चीज़ निकाली। पेन्सिल थी। पत्रिका के एक पन्ने पर कुछ लिखने लगी। जब लिखना समाप्त करके पत्रिका के पन्ने

में से लिखा हुआ भाग फाड़ रही थी तो मैंने अपना हाथ लिहाफ से बाहर करने के समय देखना चाहा। वह चुप बैठी मुझे देख और न जाने क्या सोच रही थी। मैंने उसकी ओर देखना चाहा किन्तु उसके मौन नेत्रों को देखने की ताब न ला सका। आँखें झुक गईं। मैं उसके नेत्रों का निमन्त्रण स्वीकार न कर सका।

बैठी बाहर अँधेरे में देखती रही। देखती रही और सोचती रही। फिर घूम कर उसने जज साहब और उनकी धर्म-पत्नी को देखा। फिर मेरी ओर देखते हुये उसने बायाँ हाथ धीरे-धीरे बढ़ाना आरम्भ किया। मैंने उसकी मदद की। हाथ बढ़ाकर मैंने कागज़ का टुकड़ा उससे ले लिया। इतने में उसकी माँ ने करवट बदली। चौंक कर उसने उस तरफ़ देखा। माँ की नींद खुल गई थी। उन्होंने एक बार अपनी लड़की को देखा और फिर जज साहब को। उन्हें सोते देख कर वह उठ बैठीं।

जज साहब भी जाग गये। उन्होंने आँखें मल कर घड़ी देखी और बोले—"पौने तीन। शायद एक ही स्टेशन और है।"

लिहाफ़ में मुँह ढके मैं यह सब देख और सुन रहा था। कागज़ का टुकड़ा मैंने छिपा लिया था। किन्तु जज साहब की धर्म-पत्नी को ज़रूरत से ज़्यादा गम्भीर देखकर मैं अन्दर ही अन्दर मारे भय के मरा जा रहा था और साथ साथ सोच रहा था—'इन्होंने देख तो नहीं लिया।'

वह उठ खड़ी हुई और इधर उधर फैला हुआ सामान इकट्ठा करने लगी। जो खटपट होना शुरू हुआ तो उस बहाने अँगड़ाई लेता हुआ मैं भी उठ बैठा। उसने एक नज़र मेरी ओर देखा, और बच्चों को जगाने और उठाने लगी। उसकी मौन गम्भीरता देख कर मैं इस ख़्याल से घुल रहा था कि आख़िर उसने कागज़ के टुकड़े पर क्या लिख दिया है जो ऐसी हो गई है। किन्तु जिस निडरता से माता-पिता से वह बातें कर रही थी वह देख कर मेरा दम अलग घुटा

जा रहा था। कोने में सिकुड़ा बैठा यही सोच रहा था कि अपराधी कौन और अपराध का भय किसको !

परन्तु मेरी ख़ुशी मुझसे अलग हो चुकी थी। जो कुछ हो चुका था अब उस पर आश्चर्य हो रहा था। जो अभी होने को था उसे सोचकर दिल अभी से बैठा जा रहा था। मगर जो कुछ होने को था उसे देखने को निस्सहाय आँखें खोले बैठा था।

जिस समय अपनी अनगिनत आशाओं के नेत्रों से उसे देख रहा था गाड़ी स्टेशन पर रुक गई। जज साहब का असबाब उतरने लगा। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे डब्बे से मेरी लाश उतारी जा रही थी। जज साहब को दूसरी ओर जाना था और मुझे दूसरी ओर। लोग उतरने भी लगे। सबसे पीछे वह थी। जाते जाते हाथ जोड़ कर उसने मुझे नमस्ते किया। दिल ऐसा उछला कि जैसे मुँह से निकल कर उसके चरणों में गिर पड़ेगा। उसे संभालने में नमस्ते का उत्तर भी न दे सका। देखते देखते वह प्लैटफार्म की भीड़ में न जाने कहाँ खो गई।

. गाड़ी तेज़ी से चली जा रही थी। इधर-उधर देख कर मैंने चुपके से काग़ज़ का टुकड़ा निकाल कर पढ़ने लगा। पत्रिका के पन्ने के फटे टुकड़े पर पेन्सिल की लिखावट पढ़ना मुश्किल हो गया। अचानक मारवाड़ी ने हँस कर कहा—"बाबूजी! आप तो पान नहीं खाते थे—?"

जान निकल गई। जज साहब और उनकी धर्म-पत्नी ने भी तो मेरे लाल अधरों को नहीं देखा? मारवाड़ी क्या सब देख रहा था??

× × × ×

अविनाश एकदम मेरी बात काट कर बोला—"काग़ज़ का टुकड़ा तुम्हारे पास है?"

मैंने उठकर बक्स खोला और कपड़े के नीचे बक्स की तह में से उस बहुमूल्य काग़ज़ के टुकड़े को निकाल कर अविनाश के हाथ पर

रख दिया। अविनाश एक साँस में उन चार पंक्तियों को मन ही मन पढ़ गया। उसके मौन नेत्रों को पथराया देख कर मैंने पूछा—"क्यों, क्या सोच रहे हो ?"

उसने उठ कर कमरे के बाहर जाते हुये कहा—"शीला...... जज साहब की भतीजी। मै......मैंने तो उन आँखों का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया था। फिर उसने ऐसा क्यों किया ?"

मैं काठ बन गया था। अविनाश शाम की गाड़ी से घर चला गया। आख़िरी पर्चे के इम्तहान में भी न बैठा।

मैं आज भी सोचता हूँ कि उन नेत्रों ने मेरे साथ ऐसा क्यों किया। उसी समय अविनाश की बात भी याद आती है।

उर्दू उपन्यास और कहानियाँ

आज ऐसा मालूम होता है कि जैसे हिन्दी और उर्दू दो दुनियाँ की चीज़ें हैं। हिन्दी उर्दू लिखने और पढ़ने वालों से मिल कर आदमी ऐसा अनुभव करता है कि हिन्दी और उर्दू दोनों एक दूसरे से इतने ही विभिन्न तथा दूर हैं जितनी, उदाहरण स्वरूप, अंग्रेज़ी और चीनी।

और यदि आज के पत्रों और पत्रिकाओं को पढ़ कर हिन्दी उर्दू के आपसी झगड़ों को आप सोचें तो हिन्दी और उर्दू के बीच जितनी दूरी अनुभव करेंगे उतनी दुनिया की शायद ही किसी अन्य दो भाषाओं के दर्मियान आपको नज़र आयेगी।

साथ साथ आपको यह तो मालूम है ही कि हिन्दी-उर्दू की यह लड़ाई पहलवानों की कुश्ती नहीं है जो पहलवानों के शारीरिक स्वास्थ्य तथा शक्ति बढ़ाने के लिये बहुधा आवश्यक होती है। बल्कि यह दो भाइयों के बीच वह झगड़ा है किसी को भी लाभ नहीं पहुँचा सकता।

यह जानते हुये कम ही लोग ऐसे होंगे जो सच्चे दिल से चाहेंगे

कि यह झगड़ा और बढ़े। किन्तु केवल यह समझ लेने से कि यह झगड़ा हमारे हित में नहीं है झगड़ा समाप्त नहीं हो जायगा, क्योंकि इस झगड़े के पीछे बहुत से झगड़े हैं।

मुझे यहाँ उन झगड़ों से वास्ता नहीं। इस समय हमें केवल यह देखना है कि क्या हिन्दी और उर्दू के बीच वास्तव में इतनी दूरी है जितनी हम लोग सोचने के अब आदी होते जाते हैं। किन्तु इसके लिये हिन्दी और उर्दू के पूरे साहित्यिक क्षेत्रों पर बहस करने तथा उनके निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ हम केवल उर्दू उपन्यासों और कहानियों पर दृष्टि डालेंगे। उर्दू उपन्यासों और कहानियों के रंग ढङ्ग देख कर आप आसानी से उनकी तुलना हिन्दी उपन्यासों तथा कहानियों से कर के देख लेंगे कि कित मिलती जुलती है दोनों की दुनियाँ, कितनी समानता है दोनों के इतिहास में और कितने एकसाँ हैं दोनों की बुनियादी समस्यायें। आप हिन्दी उपन्यासों और कहानियों से परिचित हैं ही। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि उर्दू के साथ साथ हम हिन्दी उपन्यासों और कहानियों की चर्चा भी करते चलें।

उर्दू उपन्यास की कहानी बहुत पुरानी नहीं। हिन्दी उपन्यास की तरह उर्दू उपन्यास भी हमारे लिये एक तरह से अंग्रेज़ी साहित्य की देन है। नज़ीर अहमद को हम एक तरह से उर्दू का पहला उपन्यासकार कह सकते हैं। उन्होंने अपना पहला उपन्यास १८६६ ई० में लिखा। उसके बाद लिखते ही रहे और अपनी ज़िन्दगी में उन्होंने कई उपन्यास लिखे। उनकी भाषा में बड़ी लोच थी। हँसते हँसाते बातें कह जाते थे। समाज-सुधार ही उनके उपन्यासों का ध्येय था। समय वह था जब कि अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव और फैलाव इस देश में बढ़ रहा था। अंग्रेज़ी पढ़े लोग भी अंग्रेज़ी कविता अथवा नाटक इत्यादि की अपेक्षा अंग्रेज़ी उपन्यास अधिक पढ़ते थे। परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे यहाँ के पढ़े लिखे लोगों में उपन्यास पढ़ने का

रवाज बढ़ने लगा। इस आन्दोलन के कारण उर्दू में नये नये उपन्यासकार पैदा होने लगे। चुनांचे नज़ीर अहमद के बाद 'सरशार' और 'शरर' उर्दू उपन्यास के मैदान में आये। रतननाथ 'सरशार' के नामी उपन्यास 'फ़सानये आज़ाद' का नाम तो आपने सुना ही होगा। कुछ लोगों की राय है कि 'सरशार' से बढ़कर उर्दू में दूसरा उपन्यासकार नहीं पैदा हुआ। मगर आप जानते हैं कि साहित्य और साहित्यकारों पर इस संकीर्ण दृष्टि से सोचना कितना ग़लत तरीक़ा है।

'सरशार' के बाद उर्दू में बहुत से उपन्यासकार पैदा हुये, जिनकी सूची लम्बी है। मगर हकीम मोहम्मद अली खाँ, डाक्टर रुसवा और सज्जाद हुसेन इत्यादि की कृतियाँ पढकर उस समय के उर्दू उपन्यास की विचार-धारा का ज्ञान हमको हो सकता है। टेकनीक के लेहाज़ से इन लोगों ने उपन्यास कला को कोई उन्नति नहीं प्रदान की। बल्कि अंग्रेज़ी उपन्यास का प्रभाव ही छाता गया। उपन्यास के विषय अवश्य समय बदलने के साथ बदलते गये।

इसके बाद मुंशी प्रेमचन्द्र का युग आता है। मुंशी प्रेमचन्द का स्थान उर्दू में वही है जो हिन्दी में। बल्कि प्रेमचन्द के विषय में यह कहना ही कठिन है कि वास्तव में मुंशी जी हिन्दी अथवा उर्दू के साहित्यकार थे। मुंशीजी के बारे में हम केवल यही कहना चाहेंगे कि हिन्दुस्तानी साहित्य में प्रेमचन्द वह सूर्य थे जिसका प्रकाश हिन्दी और उर्दू साहित्यों पर बराबर पड़ता रहा। प्रेमचन्द की क़लम ने उर्दू उपन्यासकला को उसी ऊँचाई तथा प्रौढ़ता पर पहुँचाया जिस पर हिन्दी उपन्यास उनकी लेखनी की बदौलत पहुँचा।

प्रेमचन्द के बाद यों तो उर्दू में बहुत से उपन्यास लिखने वाले हमारे सामने आये। लेकिन मेरी राय में प्रेमचन्द की ऊँचाई को कोई न पहुँच सका। यूरोप के साहित्य से प्रभावित होकर बहुत से नौजवान लिखने वाले उपन्यास लिखने का प्रयत्न करते रहे। परन्तु

उनमें से अधिक सफलता किसी को भी प्राप्त न हुई। ऐसी हालत में केवल नाम गिनाने से कोई मतलब नहीं निकलता। फिर भी फ़ैयाज अली, राशिदुलख़ैरी, अज़ीम बेग चुग़ताई, नेयाज़ फ़तेहपुरी, मजनूं गोरखपुरी इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। यों बिकने को फ़ैयाज अली साहब के उपन्यास ख़ूब ही बिकते हैं। राशिदुलख़ैरी की 'माहे अजम' भी ख़ूब ही पढ़ी गई। चुग़ताई तो हिन्दी में भी लिखते थे। 'कोलतार' और 'अंगूठी की मुसीबत' इत्यादि से आप परिचित हैं। नेयाज़ फ़तेहपुरी भाषा ऐसी लिखते थे कि यदि उपन्यास न लिखते तब भी पढ़े जाते। मजनूँ गोरखपुरी ने उर्दू साहित्य के लिए जहाँ और बहुत कुछ किया वहाँ उन्होंने 'सोगवार शबाब' भी लिखा। सज्जाद ज़हीर साहब लन्दन गये थे इसलिये उन्होंने 'लन्दन की एक रात' लिखी। चूंकि उस समय अंग्रेज़ी में जासूसी उपन्यासों का रवाज चल निकला था इसलिये उर्दू में भी जासूसी उपन्यास लिखे जाने लगे। 'नीली छतरी', 'बहराम की गिरफ़्तारी' इत्यादि के नाम आपने सुने होंगे।

प्रेमचन्द के बाद उर्दू उपन्यास लिखने वाले अपने प्रयत्न में असफल क्यों रहे, इस पर बहस करने के बजाय यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि उर्दू में समय से पहले उपन्यास की मृत्यु क्यों हो गई तो ज़्यादा अच्छा होगा। मेरी दृष्टि में इसका विशेष कारण यह है कि उपन्यास की तुलना में कहानी का रवाज उर्दू में ऐसा चल निकला कि उपन्यास को कहानी की सफलता तथा लोकप्रियता को देखकर आत्म हत्या कर लेनी पड़ी। यों तो हिन्दी में भी उपन्यास पर कहानी की उपज और श्रेष्ठता भारी पड़ रही है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि उर्दू की तरह हिन्दी में भी उपन्यास और उपन्यास लिखने वाले समाप्त हो गये।

मेरी समझ में यह भी पश्चिमी साहित्यिक आन्दोलन का परिणाम है। समय और जीवन का रंग रूप बदल जाने से पश्चिमी देशों

में कहानियाँ अधिक पढ़ी जाने लगीं। उपन्यास से कहानी लिखना और पढ़ना दोनों आसान सिद्ध हुये। आये दिन जीवन की व्यस्तता तथा परेशानियाँ ऐसी बढ़ती जाती थीं कि पूरा पूरा उपन्यास लिखना अथवा पढ़ना दोनों अप्रिय होते गये।

आप पूछेंगे कि क्या यही कारण है उर्दू उपन्यास की मृत्यु का भी। यानी क्या हमारे सामाजिक जीवन ने भी वही रंग-ढङ्ग यकायक ग्रहण कर लिये जिनके कारण पश्चिमी देशों में उपन्यास पर कहानी को श्रेष्ठता प्राप्त हो रही थी? जवाब में मैं यह कहना चाहूँगा कि यहाँ के पढ़े लिखे लोगों को अभी उपन्यास पढ़ने का काफी अवकाश था। उपन्यास लिखने की सामग्री भी हमारे सामाजिक जीवन में इतनी मौजूद थी कि लगभग पूरा का पूरा फ्रांसीसी, रूसी तथा चीनी उपन्यास साहित्य यहाँ फिर से एक बार दोहराया जा सकता था। किन्तु मानव सभ्यता अथवा संस्कृति सदैव आसान तथा सरल ही रास्ते से चलना पसन्द करती है। चुनाचे जब हिन्दुस्तानी साहित्यकारों ने वे सरल रास्ते यूरोप की कहानी कला में देख लिये तो उन्होंने भी वही आसान और संक्षिप्त रास्ते ग्रहण कर लिये। और ग़ज़ब तो यह कि नक़ल करने की यह चलन ऐसी बढ़ी कि पश्चिमी साहित्य ने जो सस्तगी और छिछलापन ग्रहण कर ली वही हमारे साहित्य की भी वर्दी बनता जा रहा है, हालाँकि ये तत्व हमारे सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के लक्षण कभी भी न थे। हिन्दी और उर्दू लिखने वालों दोनों ही पर यह बात सही उतरती है।

उर्दू में इस समय जितने चोटी के लिखने वाले हैं वे सब के सब अपना अधिक समय कहानी लिखने ही में ख़र्च कर रहे हैं। साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि जो कहानियाँ आज उर्दू में लिखी जा रही हैं वे उस श्रेणी की हैं जिन्हें पढ़कर बहुत हद तक उर्दू में उपन्यास न होने के आँसू पूंछ जाते हैं। इन कहानियों को देखकर हम यह भी कहने का साहस कर सकते हैं कि हमारी अच्छी कहानियाँ दूसरे देशों

की अच्छी कहानियों की तुलना में बुरी नहीं हैं।

जब हम वर्तमान उर्दू कहानी कला को सोचते हैं तो हमें अली अब्बास हुसैनी, कृष्ण चन्द्र, सआदत हसन मन्टो, अख़्तर हुसेन रायपुरी, राजेन्द्र सिंह बेदी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अख़्तर उरेनवी अहमद अली, ख़्वाजा अहमद अब्बास, इसमत चुग़ताई, सुहैल अज़ीमाबादी, मोहम्मद हसन असकरी, मुमताज़ मुफ़्ती इत्यादि एक साथ याद आते हैं। पुराने लिखने वालों में नेयाज़ फतेहपुरी, मजनूं गोरखपुरी तथा सुदर्शन इत्यादि स्थान रखते हैं। वैसे तो हिन्दी की तरह उर्दू कहानी कला में भी प्रेमचन्द ही ने हमें सही रास्ते पर लगाया। किन्तु उनका प्रभाव तथा लिखने का ढङ्ग बहुत तेज़ी से उर्दू कहानीकारों पर से उठता जा रहा है। यदि इस समय उनका प्रभाव किसी एक कहानीकार में आप देखना चाहते हैं तो अली अब्बास हुसेनी की कहानियाँ पढ़िये। 'मेला घुमनी', जिसे हुसेनी साहब भी अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियों में मानते हैं, प्रेमचन्द को जैसे हमारे सामने लाकर खड़ा कर देती है। लेकिन कृष्णचन्द्र से आगे प्रेमचन्द का प्रभाव कम होने लगता है। और हसन असकरी और उनके बाद के लिखने वालों में तो वह असर बिलकुल नज़र नहीं आता।

उर्दू कहानी लिखने वालों की कहानियाँ हिन्दी में अक्सर छपती रहती हैं। 'अश्क' जैसे कुछ लिखने वाले तो हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में एक साथ लिखते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी का नाम भी आपने इसी सिलसिले में सुना होगा। फिर भी आप यह जानना चाहेंगे कि आख़िर उर्दू वाले लिखते क्या हैं। इसलिये आपकी तसकीन के लिये संक्षिप्त में उर्दू कहानीकारों के सामूहिक साहित्यिक प्रयत्न का रेखा चित्र खींचने की यहाँ चेष्टा करूँगा। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि केवल प्रतिनिधि कहानीकारों ही को लेकर आगे बहस की जाय।

कृष्णचन्द्र का बचपन चूँकि काश्मीर की घाटियों में बीता था

इसलिये बहुधा उनकी कहानियों की पृष्ठभूमि काश्मीर होती है। उनकी कहानियाँ पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि जैसे ज़िन्दगी का उन्हें एक मात्रा में कटु अनुभव है। उनकी हर कहानी का विषय प्रायः किसी न किसी प्रकार की शिकस्त अथवा हार होती है। 'शिकस्त' नाम का उनका एक उपन्यास भी है। किन्तु वास्तव में वह उपन्यास कम, कहानी अधिक है। यानी उसे पढ़ते समय ऐसा मालूम होता है कि जैसे एक कहानी को घुमा फिरा कर उपन्यास बना दिया गया है। कृष्णचन्द्र में यह विशेष प्रकार का गुण अथवा अवगुण है। उनकी बहुत सी कहानियाँ वैसे कहने को कहानियाँ ही हैं किन्तु उनमें बहुधा उपन्यास की सामग्री होती है। कहने का मतलब यह है कि उनकी कहानियों में कभी कभी उपन्यास के लक्षण दिखाई पड़ते हैं और उनके उपन्यास से कहानी की गन्ध आती है। मगर इससे नतीजा निकाल कर मैं यह नहीं कहूँगा कि कृष्णचन्द्र कहानीकार और उपन्यासकार दोनों हैसियतों से असफल हैं।

उनकी कहानियों में मुझे 'सीमा' और 'ज़िन्दगी के मोड़ पर' नाम की कहानियाँ बहुत पसन्द हैं। यह दोनों कहानियाँ उपन्यास भी हो सकती थीं। इसी कारण उनके प्रति मेरा यह विचार है कि न तो वे यथार्थ रूप से कहानीकार कहे जा सकते हैं और न उपन्यासकार। बल्कि उनका स्थान कहीं बीच में है। वे शायद अभी तक यह निश्चित नहीं कर सके हैं कि उनकी पूरी बात कहानी अथवा उपन्यास में कही जा सकती है। किन्तु कहने का यह कदापि तात्पर्य नहीं कि कृष्णचन्द्र बहैसियत एक कहानीकार के असफल हैं। उनकी 'आँगी' पढ़ कर ऐसा कहने का कौन साहस कर सकता है।

आज के लिखने वालों की पीठ पर एक प्रकार का 'लेबुल' लगा होना भी कुछ लोगों की दृष्टि में आवश्यक हो गया है—यानी लिखने वाला प्रगतिशील है या नहीं। कृष्णचन्द्र को प्रगतिशीलों के साथ मैं इस कारण रखता हूँ कि वे अपनी कहानियों के द्वारा बहुधा पूँजी-

वाद का विरोध और साम्यवाद का प्रचार करते हैं। साम्यवादी होने के कारण जग जीवन पर आलोचना करना एक मात्रा में आवश्यक हो जाता है। किन्तु कृष्णचन्द्र की आलोचना का भी एक ख़ास ढंग होता है।

उनकी कहानियाँ छोटे छोटे क़िस्सों, कहानियों, घटनाओं, कहावतों और चुटकुलों के आधार पर आगे बढ़ती हैं। उनकी कहानियों में कथानक अथवा 'प्लॉट' होना आवश्यक नहीं। चलते फिरते घटनाओं पर एक विशेष दृष्टिकोण से प्रकाश डालना और इस तरह पूरे समाज तथा मानव-जीवन पर छींटे डालना उनकी विशेष शैली हैं। जैसे यहाँ समझने के लिये मान लीजिये कि दिवाली की रात है। घर घर दीप जले हुये हैं। काफी रात हो जाने से कुछ दीप बुझ चुके हैं, बहुत से बुझने वाले हैं। अचानक एक गदहा शहर के किसी कोने से ज़ोर ज़ोर से रेंकने लगता है। कृष्ण चन्द्र गदहे के रेंकने को रेंकना नहीं कहेंगे, बल्कि उसे उसका रोना या हँसना बतायेंगे। फिर गदहे के रेंकने से कुछ इस प्रकार के नतीजे निकालेंगे।

'ऐ दुनिया वालो! तुम्हारी आत्माओं में अंधकार समा गया है। तुम्हारे जीवन पर पूँजीवाद छाया हुआ है। दीप जला कर भी यदि अपना अंतःकरण प्रकाशित करना चाहो तो तुम सफल नहीं हो सकते, इसलिये कि देखो तुम्हारी दरिद्रता, तेल कम होने के कारण, तुम्हारे जलाये हुये दीप बुझाये दे रही है।'

यह रहे कृष्णचन्द्र। उनके बाद सआदत हसन मन्टो का स्थान उर्दू कहानीकारों में आता है। मगर मन्टो साहब मालूम नहीं क्यों एक अच्छे कलाकार और अति तीव्र बुद्धि के मनुष्य होने के बावजूद अपनी कहानियों का विषय केवल sex बनाये हुये हैं। वैसे उनकी कहानियों में औरतें है, शराब है, सिगरेट का धुवाँ है, वेश्याएँ हैं, मनोविश्लेषण है, और मन्टो साहब ख़ुद भी हैं। मगर मन्टो कि कहानियो का विषय ख़ास तौर से सिर्फ औरत होती है। यानी जहाँ

औरत समाप्त होती है वहीं मन्टो की कहानियाँ भी समाप्त हो जाती हैं। इसके विपरीत कृष्णचन्द्र की कहानियाँ आमतौर से वहीं से शुरू होती हैं जहाँ औरत समाप्त हो जाती है। मन्टो और कृष्णचन्द्र की कला में यह सबसे बड़ा अन्तर है।

हाँडी के कुछ चावलों को टटोल कर खिचड़ी का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इसलिये उर्दू गल्प का सामूहिक रूप से निरीक्षण करने की ग़रज़ से यदि दो और लिखने वालों का उल्लेख हो जाय तो एक मात्रा में काम चल जायगा।

यह दो सज्जन हैं अली अब्बास हुसैनी और मोहम्मद हसन असकरी। वैसे लिखने को हुसैनी साहब अब भी लिखते हैं किन्तु ऐतिहासिक रूप से हुसैनी कृष्णचन्द्र से भी पहले आते हैं। असकरी कृष्णचन्द्र से बहुत बाद में आते हैं, यद्यपि लिखने को दोनो इस समय साथ साथ लिख रहे हैं। असकरी अभी बिल्कुल नौजवान हैं या यह कहिये कि बहुत नौजवान है; हुसैनी अगर बूढ़े नहीं तो जवान भी नहीं हैं। हुसैनी के एक संग्रह का नाम है 'बासी फूल'। मालूम नहीं यह उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियों का संग्रह है या नहीं, लेकिन न जाने क्यों मुझे यह नाम भुलाये से नहीं भूलता। बल्कि जब हुसैनी साहब को सोचता हूँ तो 'बासी फूल' याद आता है और जब बासी फूल सोचता हूँ तो हुसैनी याद आते हैं। गोया उर्दू कहानीकारों में हुसैनी बासी फूल हैं।

असकरी वर्तमान कहानीकारों में सबसे नये माने जाते हैं, यद्यपि उर्दू में कहानी लिखने वालों का ताँता उनके बाद टूट नहीं गया। आप पूछ सकते हैं कि यदि ऐसा है तो फिर असकरी का हुसैनी से क्या सम्बन्ध। लेकिन मेरी समझ में सम्बन्ध है और वह यह है कि इन दोनों लिखने वालों के बीच हमें जो दूरी मिलती है वही उत्थान अथवा पतन की सीढ़ियाँ उर्दू गल्प ने पिछले पच्चीस सालों में तय की है।

असकरी पर विशेष रूप से फ्रांस के साहित्यिकों का प्रभाव पड़ा है, इतना कि उनकी कला में भी कभी कभी वही अस्पष्टता तथा धुँधलापन दिखाई पड़ता है जो अन्तिम उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रासीसी कलाकारों की कृतियों की विशेषता थी। मगर साथ साथ यह भी सत्य है कि यदि भगवान की कृपा से आपने उनकी कहानियों का अर्थ समझ लिया तब फिर क्या कहना। समुद्र की तह में पहुँच कर मोती मिलते हैं, कुतुब मीनार पर चढ़ कर दिल्ली दिखाई देती है। यही है असकरी की कला।

लड़कियाँ इनकी कहानियों की भी ताना-बाना होती हैं। किन्तु इनकी कहानियों की युवतियों की कुछ विशेषतायें हैं। आमतौर से यह युवतियाँ ग़रीब ईसाई घरानों की होती हैं। साँवली या काली, थोड़ी पढ़ी लिखी, रूपवती अथवा कुरूप युवतियाँ। लेकिन एक एक के दिल में कुम्हारों के आँवे के आँवे छिपे होते हैं।

बहैसियत एक अच्छे और ऊँचे कहानीकार के जग-जीवन पर असकरी भी आलोचक की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन उनका ढंग बिल्कुल विभिन्न और विचित्र है। बस समझने के लिये होस्टल में रहने वाली दो ऐसी लड़कियों को सोचिये जो एक ही रज़ाई के नीचे सोई हों। एक लड़की के दाहने पैर में काला मोज़ा है और बायें पैर में सफ़ेद मोज़ा। दूसरी लड़की के दाहने पैर में सफ़ेद मोज़ा और बायें में काला मोज़ा है। लड़कियाँ एक दूसरे के पैरों को देखती हैं और अन्दर ही अन्दर अपने तथा जग जीवन पर कुढ़ती हैं। किन्तु बात या तो कहना नहीं चाहतीं अथवा पूरे तौर से समझती नहीं हैं। मोज़े बदलकर एक के पैरों में सिर्फ़ सफ़ेद और दूसरी के पैरों में केवल काले मोजे हो सकते हैं। किन्तु होते नहीं और यदि हो सकते हैं तो क्या लड़कियाँ मोज़े बदल लेंगी? यदि आप स्त्री स्वभाव से परिचित हैं तो उत्तर देंगे 'नहीं'। परन्तु यदि लड़कियाँ आपस में मोज़े बदल भी लें तो क्या वे प्रसन्न हो सकेंगी? असकरी साहब मुस्करा कर अपने

विशेष भाव से कहेंगे—"शायद नहीं।"

आख़िर में यह कहना है कि उर्दू उपन्यासों और कहानियों में लगभग वही बातें और वही झगड़े हैं जो हिन्दी में आपको मिलते हैं। वही दुःख-सुख, वही प्रेम और सुन्दरता, वही दरिद्रता के दुखड़े तथा अमीरी के घमंड, वही मानव-जाति की असफलता और उदासीनता। उर्दू लिखने वाले हिन्दी लिखने वालों से भिन्न नहीं हैं। वैसे यह सत्य है ही कि किसी को कुछ सूझती है, किसी की दृष्टि किसी वस्तु पर जाती है। अपने अपने लिखने का ढंग भी अलग होता है। यह बातें आपको हिन्दी लिखने वालों में भी मिलेंगी, वरना सभी हिन्दी साहित्यकार एक ही सी और एक ही बात न लिखते होते।

और हाँ, भूला ही जा रहा था। एक बात और। हिन्दी की तरह उर्दू में भी कहानियाँ तथा उपन्यास लिखने वाली महिलाएँ और युवतियाँ आप को मिलेंगी। उर्दू में भी इस प्रकार की कोमल लेखनियाँ लोहे से सख़्त विषयों पर इस समय चल रही हैं। इनकी गिनती अच्छी ख़ासी होगई है। इनमें विशेष रूप से इसमत चुग़ताई ने अपनी लेखनी द्वारा उर्दू में अच्छा स्थान प्राप्त कर लिया है।

बीमार

तीन वर्ष बीत गये। शील कमल की शादी हो चुकी थी। अब वह अपने पति के साथ एक बड़े शहर में रहती थी। पतिदेव किसी अच्छे समाचार पत्र के स्थानीय संवाददाता थे। समाचार पत्रों के संवाददाताओं का जीवन यों भी कितना व्यस्त होता है। किन्तु एक बड़े अंग्रेज़ी दैनिक पत्र का स्थानीय संवाददाता होना कुछ और ही होता है। जहाँ से पत्र निकलता है वहाँ के संवाददाता की ख़ास ज़िम्मेदारी होती है।

परन्तु यदि अधिक काम न हो तब भी, पत्रकारों की जैसी आदत अथवा स्वभाव होता है, वे अपने को व्यस्त बनाये रहते हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि पत्रकारों का काम ही ऐसा होता है कि यदि वे न भी चाहें तब भी उन्हें व्यस्त रहना पड़ता है। और जब आमतौर से ऐसा समझा जाता है तो उस पत्रकार को जिसे जीवन सफल बनाना है मजबूरन अपने को व्यस्त बनाये रखना पड़ेगा। इसलिये कि यदि वह व्यस्त नहीं है अथवा अपने को व्यस्त नहीं बनाये हुये है तो दूसरे समझेंगे कि वह सफल पत्रकार नहीं है। यह वैसे ही है जैसे

कान की खूंट निकालने वालों को बाजीराव पेशवा अथवा नाना फड़नवीस की तरह पगड़ी बाँधे रहना आवश्यक होता है। कान से खूंट निकालने का मराठा सम्राटों से कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु पेशा तो पेशा ही ठहरा। और आदमी जब कोई पेशा अपनाता है तो उसके रीति-रवाज को उसे मानना पड़ता है।

दैनिक पत्र के संवाददाता का क्या जीवन होता है यह वही जान सकता है। पत्रकार एक अजीब दुनियाँ में रहता है, और उस मानसिक संसार में उसका स्थान बहुत महत्व रखता है। उसकी दृष्टि में दुनिया दुनिया नहीं होती, बल्कि दुनिया ख़बर होती है। दुनिया को वह दुनिया समझ कर नहीं देखता पहचानता, बल्कि दुनिया को समाचार समझ कर उसके लिये दौड़ता भागता रहता है। उसके लिये किसी का मरना मरना नहीं बल्कि समाचार है: किसी का जीना जीना नहीं बल्कि समाचार है। अर्थात् दुनिया की हर वस्तु उसके लिये समाचार है, उसका पत्र समाचार है, वह स्वय समाचार है, और शील कमल भी उसके लिये समाचार है।

ऐसे के साथ जब शील कमल का विवाह हुआ था तो उसका जीवन क्या और किस प्रकार का होता इसे सोचने में उसे अधिक देर न लगी। वैसे उसके पति देव हर समय व्यस्त रहते थे। लेकिन उन दिनों ख़ास तौर से उनकी ज़िन्दगी जैसे तूफ़ान हो रही थी। उनकी दृष्टि में दुनिया की क़िस्मत का फ़ैसला हर क्षण हो रहा था, और उस फ़ैसले में उनका बड़ा हाथ था, इसलिये कि उस फ़ैसले की ख़बर दुनिया को देना उन्हीं का काम था, वरना दुनिया वालों को कैसे मालूम होता कि दुनिया पर अकस्मात् क्या बीत गई।

दस लाख से अधिक जनसंख्या के औद्योगिक तथा व्यावसायिक नगर में छोटी बड़ी हड़तालें रोज़ होती रहती हैं, मिल-मालिकों को मज़दूरों से सदैव शिकायत रहती है, पूँजी परिश्रम का ख़ून नित्य चूस कर ही बढ़ती है, धन के अंधकार में दरिद्रता अपना दीप रोज़ जलाती

और बुझाती है, और आदमी के हाथों आदमी का ख़ून और पसीना रोज़ बहता और बिकता है।

इस पर लड़ाई का समय। संसार और समय को जैसे आग लग गई है। पैसा बन रहा और पैसा फुँक रहा है। आदमी के दिल में भय है और आशा भी। दुनिया बिगड़ रही है और बन भी रही है। न मालूम लोग जा कहाँ रहे हैं। जगह-जगह से क्रान्ति की लपटें उठती हैं। मज़दूरों की बस्तियाँ सूखी लकड़ी हो रही हैं। इन्हीं बस्तियों में वे चूहे भी रहते हैं जो केवल रात को अपनी बिलों से निकलते हैं। एक बस्ती से दूसरी बस्ती और दूसरी से तीसरी बस्ती में पहुँच जाते हैं। मज़दूरों के झोपड़ों में चुपके चुपके बातें करते हैं, जो बातें न मज़दूर समझते हैं और न वे ख़ुद समझते हैं। प्रातःकाल जब चूहे अपनी बिलों में छिप जाते हैं तो बिजली के खम्भों पर, दीवारों और मिल के फाटकों पर लाल लाल इश्तहार चिपके नज़र आते हैं।

रात के अँधेरे में हाथों में मशाल और बत्ती लिये बड़े-बड़े जलूस निकलते हैं। घोड़ों की टापें जब सुनाई देती हैं तो ये मशालें और बत्तियाँ बुझ जाती हैं। फिर दूर से आसमान फाड़ने वाले नारे सुनाई पड़ने लगते हैं। दूर-दूर से 'हू' 'हू' की आवाज़ें आती हैं। आधी रात को सियार बोलते, उल्लू चीख़ते और कुत्ते भूँकते हैं। कुत्ते ऐसे भूँकते हैं कि जैसे शहर के बाहर मशीन-गन 'ककाटू' 'ककाटू' कर रही हो। इन आवाज़ों से सोये नागरिक चौंक उठते और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे दुश्मन शहर के बाहर आ गया।

किन्तु यह सब कुछ भी न था जब तक कि संवाददाता इस सब की ख़बर छपने को न देता। ऐसा जीवन था शील कमल के पति का। वह शील कमल को बार बार समझाता, किन्तु वह ज़्यादा समझ न पाती।

* *

जाड़े की रात थी। शील कमल और उसके पतिदेव सोफ़े पर आतिशदान के पास पैर फैलाये बैठे थे। नौकर ने आकर ख़बर की—"कोई साहब मिलना चाहते हैं।"

जाड़े-पाले में बाहर कौन जाता। संवाददाता ने मिलने वाले को कमरे ही में बुलवा लिया।

सूती कपड़े का कोट पतलून पहने, हाथ में चमड़े का बेग लिये, एक आदमी उपस्थित हुआ। सवाददाता ने सामने की कुर्सी पर उसे वैठने को संकेत किया। आदमी का शरीर दुबला किन्तु चौड़ा और मज़बूत था। चेहरा समय से पहले बूढ़ा हुआ मालूम होता था।

संवाददाता बातें करने लगा। शील कमल बैठी अतिथि की बिगड़ी दाढ़ी और सर के बिखरे बड़े-बड़े बालों को देख कर हैरान हो रही थी।

बीमा कम्पनी के एजेंन्टों से कौन जान बचाना नहीं चाहता। किन्तु संवाददाता अधिक परेशान एजेन्ट के हुलिये से था। उसका इतनी रात गये आना भी कम परेशान करने वाली बात न थी। किन्तु उसकी परेशानी का सबसे बड़ा कारण अब स्वयं एजेन्ट की परेशानी थी। देखने से ऐसा मालूम होता था कि जैसे वह भूल कर अथवा ग़लती से चला आया था।

परन्तु उसकी परेशानी की सही वजह उसी समय मालूम हो सकी जब उसने शील कमल को ख़ूब ध्यान से देखकर मुस्कराते हुये कहा—"आपने पहचाना नहीं?" परिस्थिति को ख़ूब समझ कर और उस पर क़ाबू पाने के बाद उसने निश्चय कर लिया था कि बिना इस वाक्य के शील कमल की परेशानी कम न होगी।

शील कमल भय की भावना पर सफलता प्राप्त करती हुई, किन्तु अब भी अपनी आँखों का जैसे विश्वास न करते हुये—"क्यों हरीश बाबू? आप!"

संवाददाता अपनी आँखों से शील कमल और एजेन्ट दोनों को

मानो खाये डाल रहा था। और जब किसी तरह वह अपनी परेशानी को पराजित न कर सका तो उसने शील कमल को संकेत करके पूछा—"आप जानती हैं इन्हें ?"

शील कमल ने मुस्करा कर, भयभीत हर्ष को दबाते हुये, उत्तर दिया—"जी हाँ, हरीश बाबू !"

आँखें उठा कर पति देव की ओर देख कर फिर कहने लगी—"हरीश बाबू ! आपको यह क्या सूझी जो इस तरह भेस बना कर ऐसे समय आये ? क्या हम लोगों को डराना चाहते थे ?"

हरीश को मजबूर होकर वह कहानी वहाँ से सुनानी पड़ी जहाँ से वह शील कमल से अलग हुआ था। पढ़ना लिखना छोड़ने के बाद कुछ दिनों तक तो वह बिहार भूकम्प के पीड़ितों की सहायता करता रहा। किन्तु अधिक समय तक वह काम न कर सका। जल्द ही उसकी समाज सेवा सरकार की दृष्टि में खटकने लगी। इसलिये मजबूर हो कर उसे वहाँ से चल देना पड़ा। परन्तु पेट भरने के लिए कुछ न कुछ तो करना ही था। बीमे का काम उसने इसी विचार से आरम्भ किया। मगर जब यह सन्देह हुआ कि बीमा के इश्तहारों से ज़्यादा ज़रूरी चीज़ें वह अपने बेग में लिये फिरता था तो ख़ुफ़िया पुलिस हाथ धोकर उसके पीछे पड़ गई। चुनांचे अब साल भर से अधिक हो रहा था वह यहाँ से वहाँ मारा मारा फिरता था। कहीं एक जगह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता। अगर शहर में रहता तो सिर्फ़ रात में निकलता। बहुधा शहर से दूर ही रहता था। कोई ज़रूरी काम पड़ने ही पर शहर आता था।

शील कमल भयभीत हरीश की कहानी सुनती रही। कमरे में सिवाय हरीश की धीमी आवाज़ के पूर्ण स्तब्धता थी। बाहर जाड़े की ठंढी रात दुनिया को अपने पंखों के नीचे दबाये बैठी थी। दूर कहीं से कुत्ते के भूँकने की आवाज़ आ रही थी। कुत्ते का भूँकना सुन कर शील कमल बार-बार बाहर देखती और फिर हरीश के मुख-मंडल पर

गहरी झुर्रियों और रेखाओं को देखकर आश्चर्य करती। हरीश पूरे वातावरण का मालिक बना बैठा था, जिसमें शील कमल और संवाददाता दोनों खिलौनों जैसे लग रहे थे। हरीश दोनों की परेशानी समझ रहा था। उसे यह भी सन्देह होता कि सम्भवतः दोनों अब भी डर रहे हैं। अतएव जैसे दोनों की नाड़ी पर उंगलियाँ रखते हुये उसने कहा—"भूखा कुत्ता, जाड़े की अंधेरी रात में, कहीं भूँक रहा है।" कह कर उठ खड़ा हुआ और मुस्करा कर दोनों की ओर देखते हुये हाथ फैला दिया—'पांच रुपये आप और पांच रुपये आप।"

शील कमल और उसके पतिदेव दोनों परेशानी की हालत में उसे देखते रहे। शील कमल अन्दर गई और एक हाथ में दस रुपये का नोट और दूसरे में चाभी का गुच्छा लिये बाहर आई। उसके हाथ से नोट लेते हुये हरीश ने हँस कर कहा—"ग़रीबों के लिये—"

उस रात को शील कमल पर जो बीती वह शील कमल ही जानती है। पतिदेव के साथ सोते-सोते काँप कर एकाएक चिल्ला उठी। सवाद दाता ने उसका हाथ दबाते हुये पूछा—"क्या हुआ कमल ?"

डरी हुई कमल ने बच्चों जैसे स्वर में बताया—"स्वप्न देख रही थी। सोफ़े पर कुत्ता बैठा भूँक रहा था। बाहर अंधेरी रात में जाकर खो गया।"

कुछ देर चुप बैठी दीवार पर तकती रही। फिर उसने धीमे स्वर से कहा—"उसको मैं समझी नहीं।"

*　　　　　*

शहर से वह जगह लगभग ३६ मील की दूरी पर है। क़रीब २० मील तक तो पक्की सड़क ही चली जाती है। उसके बाद सड़क छोड़ना पड़ता है, इसलिये कि वहाँ से सड़क दक्षिण की ओर निकल जाती है। जहाँ से सड़क छूटती है वहीं से जङ्गल शुरू हो जाता है। वास्तव में जङ्गल और पहाड़ दोनों ही वहीं से शुरू होते हैं। पहाड़ी

जङ्गल में म हो कर वह लीक निकलती है जिस पर मुश्किल से एक बैलगाड़ो चल सकती है। आदमियों के चलने से बीच में जो रास्ता बन गया है वह साफ़ दिखाई पड़ता है। लीक दूर जङ्गल और झाड़ी के अन्दर जाकर टेढ़ी मेढ़ी हो जाती है। रास्ते में अक्सर गड्ढे मिलते हैं। पत्थर की बड़ी-बड़ी चट्टानें तो पग-पग पर हैं। पत्थरों के बीच काँटेदार झाड़ियाँ उगी हैं। झाड़ियाँ इतनी गु जान हैं कि उनके बीच से निकलना कठिन हो जाता है। जानवरों के पैरों के चिन्ह झाड़ियों के बीच भी नज़र आते हैं। झाड़ियों, पत्थरों और गड्ढों के कारण रास्ता साँप की तरह बल खाता हुआ जाता है। लीक रस्सी की तरह दायें बायें घूमती और चक्कर खाती हुई मालूम नहीं आगे कहाँ चली जाती है।

लीक से सात आठ मील और आगे जाकर पथरचट्टा मिलता है। इस स्थान का नाम पथरचट्टा इस कारण है कि यहाँ कभी पत्थर की खुदाई होती थी। यहीं से लम्बी लम्बी ऊँची पहाड़ियों का सिल-सिला भी आरम्भ हो जाता है। पहाड़ियों के नीचे लाल रङ्ग का पत्थर मिलता है जिसकी यहाँ खुदाई होती थी।

पथरचट्टा से दाहिनी ओर चलने पर जङ्गल बहुत घने हो जाते हैं। आदमियों के आने-जाने का कोई रास्ता यहाँ नहीं है। केवल जङ्गली पशुओं के पैरों के चिन्ह यहाँ वहाँ दिखाई पड़ते हैं। हिरन और नीलगाय की मेंगनी देखने से मालूम होता है कि यह जङ्गली जानवरों के रहने की जगह है। जङ्गली सुअरों ने पौदों की जड़ों में थूथन से खोद कर अक्सर गड्ढे बना दिये हैं। बरसात में जब कुछ खाने को नहीं मिलता तो सुअर पौदों और वृक्षों की जड़ों ही से पेट भरते हैं।

पाँच मील तक ऐसे ही घने जङ्गल मिलते हैं। यहाँ से होकर निकलना ख़तरे से ख़ाली नहीं। विशेष कर गङ्गा नदी के पास पहुँच कर रास्ता जोखिम हो जाता है। तेंदुए वहीं रहते हैं जहाँ हिरनों

का बसेरा होता है। लेकिन गङ्गा नदी के पास, जहाँ जङ्गल बहुत घना हो गया है, दिन के वक्त भी चीते नज़र आ जाते हैं। दरिया के किनारे जब चीते पानी पीने निकलते हैं तो शिकारियों के भाग्य खुल जाते हैं। और जब शिकारी नहीं होते तो पानी पीने आने वाले दूसरे जानवर चीतों के शिकार बन जाते हैं।

नदी पहाड़ी है। बरसात के अतिरिक्त दूसरी ऋतुओं में सूखी रहती है। नदी की तह में भी पत्थर हैं। जाड़े तथा गर्मी में पथरीली तह साफ दिखाई देती है। देखने से ऐसा लगता है कि जैसे पत्थर गला कर नदी की तह में कभी बहा दिया गया था। पत्थरों के बीच से पानी के पतले पतले सोते जाड़े और गर्मी में भी तेज़ी से बहते रहते हैं। आदमी इन पत्थरों पर पैर रख कर नदी के आर पार चले जाते हैं।

इस तरह नदी पार करते समय जब कभी पानी रेलता हुआ आ जाता है तो भागने वाले भाग भी नहीं पाते। पहाड़ी नदी के बरसाती पानी के साथ बहने वालों के सर पत्थरों से टकरा कर चूर हो जाते हैं। इन्हीं पत्थरों की दरारों में घड़ियाल बैठे रहते हैं, जो नदी पार करने वालों पर पूँछ से चोट करके टुकड़े टुकड़े कर देते हैं। जाड़ों में दिन के समय घड़ियाल और गोंहटे पानी से निकल कर पत्थरों पर अकसर धूप खाते दिखाई देते हैं।

नदी पार कर के एक मील जाने पर बाँडा राज की सूनी छावनी मिलती है। छावनी को देख कर यह नहीं मालूम होता कि वहाँ वह किस उद्देश्य से बनाई गई होगी, क्योंकि न तो कोई छावनी में रहता है और न उसके आस पास दस पाँच मील तक कोई बस्ती है। बाँडा राज एक ज़माने से 'कोरट' के आधीन है। इसलिये अब यहाँ न कोई आता है और न छावनी की मरम्मत होती है। आस पास के जङ्गल और ज़मीन बाँडा राज ही के हैं। सम्भव है छावनी राजा साहब का क़ब्ज़ा देखाने के लिये बनी हो। छावनी के लिये

एक महतो अथवा चौकीदार नियुक्त है, जो छावनी से आठ मील पर रहता है, जहाँ उसे तीस एकड़ ज़मीन माफ़ी मिली है। छावनी की निगरानी करने वह अब भी कभी कभी आ जाता है।

छावनी में उन दिनों हरीश रहता था। साथी उसके कई थे, जो आते जाते रहते थे। स्थायी साथी उसके दो ही थे—टाइपराइटर और साइक्लोस्टाइल मशीन। इसके अतिरिक्त पुराने अखबारों और छपे और बिना छपे कागज़ों का ढेर लगा रहता था। जब से हरीश बीमार पड़ा तब से टाइपराइटर भी बीमार था और साइक्लोस्टाइल मशीन भी। किताबें इत्यादि अलग बिखरी पड़ी थीं। हरीश की देख-रेख के लिये पार्टी ने कामरेड वागडा को भेज दिया था।

हरीश अपने साथ होम्योपैथी दवाइयों का एक बक्स भी रखता था। मालूम नहीं कब कैसी ज़रूरत पड़ जाय। पार्टी की ओर से टिंचर, रुई और मरहम इत्यादि भी रखने की ताक़ीद थी। चोट इत्यादि लगने पर मरहम पट्टी वहीं की वहीं हो सकती थी। हरीश एक रिवाल्वर भी रखता था, जिसकी इजाज़त पार्टी की ओर से न थी। किन्तु जङ्गल और पहाड़ों पर से गुज़रते समय उसके होने से हरीश ही की नहीं बल्कि पार्टी के दूसरे आदमियों की भी हिम्मत बंधती थी। भूकम्प के बाद रिवाल्वर हरीश को उसके एक क्रान्तिकारी मित्र ने रखने को दी थी, परन्तु उसे कभी लौटाने का अवसर न आया। इसके अतिरिक्त स्वयं हरीश को जो बात सम्भवतः मालूम न थी वह यह थी कि एक अच्छा कामरेड होते हुये भी वास्तव में वह अत्यन्त भावुक था। इसलिये जो पुरानी चीज़ें उसके पास पड़ी रह गई थीं उन्हें वह आसानी से छोड़ नहीं सकता था। अतः इसी तरह उसके मनीबैग में कैरम की एक पुरानी गोट भी पड़ी थी।

वागडा देर से बाहर बरामदे में बैठी थी। मकान के बाईं ओर

से किसी के आने की आहट मिली। वागडा को चिढ़ सी हुई। उसने सोचा महतो फिर आया। किन्तु छावनी के महतो के बजाय जब कामरेड अनवर नज़र आये तो उसे बहुत संतोष हुआ। अनवर बरामदे में चढ़ते समय सीढ़ी पर पैर पटकने लगा ताकि जूतों से कीचड़ निकल जाय। वागडा ने ओंठों पर उंगली रख कर उसे जूते पीटने से रोका। अनवर ने धीरे से छाता दालान में सूखने को रक्खा और ख़ुद आकर वागडा के बग़ल में बेञ्च पर बैठ गया।

"अब कैसी हालत है ?"

"वैसी ही। रात को बुख़ार कुछ कम हो जाता है, और वक्त वैसा ही रहता है।"

"नहीं, दिमाग़ की हालत कैसी है ? अब भी वैसा ही बकता-झकता है या—"

"बिल्कुल वैसा ही। कल तो घंटों कैरम कैरम लगाये रहा। बाहर से कोई सुनता तो समझता कि सचमुच कोई कैरम खेल रहा है। मेरी समझ में तो उसकी हालत अच्छी नहीं मालूम होती। दवा क्या अब की बार बदली है ?"

"दवा दूसरी बताई है। लेकिन यह नहीं बताया कि कैसा बुख़ार है। मुझे तो टाइफ़ायड का संदेह होता है।"

"टाइफ़ाइड इस मौसम में ?"

"क्यों, इसमें क्या ? टाइफ़ाइड तो अब हमेशा सुनने में आने लगा है। मेरा ख़्याल तो यही है। लेकिन वे तो कुछ बताते नहीं, चाहे कोई कितना पूछे।"

"होम्योपैथी में यही तो सबसे बड़ी ख़राबी है। अंधे के हाथ गुलेल, लग गई तो वाहवाह, नहीं तो बस चलो।"

कुछ सोचते हुये—"हाँ।"

"इन कम्बख़्तों के यहाँ तो बस 'सिम्पटम' ही 'सिम्पटम' रट लगी रहती है। यह 'सिम्पटम' और वह 'सिम्पटम,' मालूम नहीं अला-बला

क्या बकते हैं सब ।"

"हाँ, मगर ध्यान रखना कि क्या-क्या बकता है, क्योंकि इस पर वे बहुत ज़ोर दे रहे हैं।"

"देते रहें। उसमें भी क्या कोई फ़र्क है। बुख़ार तेज़ हुआ नहीं कि कैरम की गोट, कमल, और न जाने क्या क्या अनाप-शनाप बकने लगता है।" सामने देखते और सोचते हुये—"बेचारे को न जाने क्या हो गया है। मेरा तो जी घबराता है। न मालूम क्या हो? आख़िर कौन है यह शील कमल—"

"कामरेड, तुम भी क्या कमाल करती हो। कहाँ-कहाँ से मारा आ रहा हूँ। तुमने एक प्याली चाय भी न पूछा और—पहले पार्टी की ख़बरें तो सुनो, क्या कमाल कर रहे हैं शहर म यार लोग।"

"माफ़ करना कामरेड। बातों बातों में भूल ही गई। केतली गरम होगी। दिन भर चाय ही तो पीती रही। ऐसी बदली और सरदी है कि"—वाक्य अधूरा छोड़ कर जाने लगी।

"ठहरो! हाँ, देखना उसे जगाना मत अगर सो गया हो। वरना पार्टी इत्यादि के झमेले शुरू कर देगा। मै समझता हूँ उसके ऊपर इसका भी बड़ा असर है कि ऐसे कठिन समय पर इस तरह वह बेकार हो गया। यदि किसी तरह उसके दिमाग़ से पार्टी और काम का ख़याल निकल जाता—"

"यह हो जाता तब क्या था। ठहरो चाय लेकर आई।"

"सुनना! महतो तो नहीं आया था?"

"आई!"

दूर से चीख़ कर वागडा मकान के पीछे ग़ायब हो गई।

अनवर ने मकान के दरवाज़े मे ताला बन्द देखा और सोचने लगा। अपने जान में हम लोग अति सावधानी से काम कर रहे हैं। किन्तु यह अभागा महतो हम लोगों के पीछे ही पड़ गया है। मालूम नहीं इसके सिर क्या भूत सवार है। लालच की भी कोई हद होती है। हर तरह

समझाया कि जब हम लोग सफल हो जायँगे तो छावनी और यह सारी ज़मीन तुम्हारी हो जायगी। लेकिन यह नित्य कोई न कोई नई कहानी गढ़ कर लाता है। कोई इसे बहकाता तो नहीं है? समझ में नहीं आता कि इसके साथ क्या किया जाय। ऐसा लगता है हमारा काम ही तोड़ कर रख देगा......

हरीश की दशा ऐसी है नहीं कि कोई और बन्दोबस्त करने को हम सोच भी सकें। इसे लेकर कहाँ जायँ। पार्टी का सारा काम सत्यानाश हो रहा है। कुछ समझ में नहीं आता। बम्बई वाले समझते नहीं कि हम लोग किस तरह काम चला रहे हैं। जब देखिये यही लिख कर आता है कि जो काम में ढीला पड़े उसे अलग कर दो। लेकिन यदि हम रोज़ निकालते रहें तो रही कितने जायँगे। और जब हमारे सामने मरने जीने का प्रश्न है तो हम कैसे इतनी सख़्ती से काम लेकर अपना काम चला सकते हैं। हर तरह के आदमी हैं हमारे साथ; अलग अलग उनके काम करने के ढंग हैं। एक ही पैमाने से हम सब को तो नाप नहीं सकते। और फिर हमको क्या मतलब कि किसके अन्दर क्या हो रहा है। किसी की निजी समस्याओं से हम कब तक उलझते रहेंगे। यदि इस तरह काम करें तो गाड़ी क्या आगे चल भी सकती है। हमको काम से काम, किसी के निजी झगड़ों से क्या मतलब। केवल यह देखना है कि कौन कितना कर सकता है। सब एक सा तो कर भी नहीं सकते। हाँ, इसमें संदेह नहीं कि पूतू का तरीक़ा ग़लत है। यह समय नहीं है कि हम अपनी समस्याओं में इस तरह उलझे रहें। शत्रु अपनी सारी शक्ति इस समय हमारे ही ख़िलाफ़ लगा रहा है। इसलिये यदि हमने सावधानी तथा साहस से काम न लिया तो हम ख़तम ही हो जायँगे। पूतू का वह हाल है। नीमी के काम करने का अपना ढंग है। हरीश इस तरह पड़ा है। हरीश......

हरीश का ख़्याल आते ही उसके प्रति अनवर के सारे कोमल भाव उभर आये और वह उसके बारे में उस समय से सोचने लगा जब

वह नाज़िर साहब का सात साल का एकलौता लड़का था। घर में अकेला होने के कारण उसका बचपन एक अजीब वातावरण में बीता। नाज़िर साहब ऐसे पिता नहीं थे जो कई बच्चे खो कर आख़िरी लड़के पर अपने को निछावर कर देते। बल्कि दो लड़कों की जवान मृत्यु देख कर सन्तान की ओर से वे ऐसे उदास हो गये थे कि जैसे हरीश का घर में होना न होना उनके लिये बराबर था। यह नहीं कि लड़के की वे बिल्कुल तवज्जेह ही नहीं करते थे या उनकी उदासी ने किसी प्रकार की कठोरता का रूप ग्रहण कर लिया था। इसके विपरीत, हरीश के साथ उनका कुछ इस प्रकार का सलूक था—जैसे और लड़के थे वैसे हरीश भी है। उसके होने में उनका उतना ही हाथ था जितना दूसरे बच्चों के न होने में रहा था। इसलिये यदि उन लड़कों के न रहने पर वे मर न गये तो हरीश के रहने पर कैसे जी उठते।

ऐसे घर में हरीश का जीवन इस तरह आरम्भ हुआ। बचपन अकेला गुज़रा। पास पड़ोस में वह जा नहीं सकता था, इसलिये कि माँ बाप को वह बात अधिक पसन्द न थी। स्कूल से लौट कर बाक़ी वक्त घर ही में बीताता। माँ अधिक समय पूजा पाठ में बिताती थीं। उन्हे बड़े लड़कों के न होने का उतना ही शोक था जितना हरीश के होने से संतोष। इसी कारण भगवान की सेवा में अधिक लगी रहती थीं। जहाँ नाज़िर जी अपने स्वभाव के कारण हरीश से न बहुत ख़ुश और न हिल मिल सकते थे, वहाँ उनकी धर्म-पत्नी इस डर से हरीश को सोच कर अथवा देख कर अधिक प्रसन्न न होती थीं कि उनकी ख़ुशी सम्भवतः भगवान को अच्छी न लगे। तात्पर्य यह कि हरीश अपने घर की ऐसी सन्तान था जिसके माता पिता उससे इस कारण ख़ुश नहीं होते कि उनका हर्ष शायद भगवान को अच्छा न लगे। ऐसे बच्चों को बहुधा लापरवाही से रक्खा जाता है, उन्हें मामूली कपड़े पहनाये जाते हैं, नाक कान

छिदा कर उन्हें कुरूप बना दिया जाता है और उनके नाम भी बेतुके और बेढंगे रक्खे जाते हैं। इस लापरवाही का अभिप्राय यह होता है कि बच्चे पर भगवान के दूतों की दृष्टि न पड़े। हर्ष का प्रदर्शन इस कारण नहीं किया जाता कि हर्ष से क्रुद्ध होकर भगवान हर्ष के विषय को छीन न लें।

अनवर जो हरीश के बचपन से भली भाँति परिचित था हरीश के विषय में इस प्रकार विचार करते करते उसको एक सामाजिक समस्या बना कर सोचने लगा, और फिर इस प्रश्न सूचक निष्कर्ष पर पहुँचा कि जिस बच्चे के वास्ते ज़मीन और आसमान के बीच आशा और भय की एसी पेशबन्दी होती हो उस समय उस बेचारे बच्चे पर क्या बीतती होगी। इस समस्या पर जब उसने मनोविज्ञान की सहायता से सोचा तो इस नतीजे पर पहुँचा कि हरीश बचपन ही से बीमार था। बीमारी से उसका मतलब मनोवैज्ञानिक बीमारी थी।

कामरेड वागडा एक हाथ में चाय का गिलास और दूसरे हाथ में तश्तरी, जिसमें खाने की कोई चीज़ थी, लिये आ गई। जब वागडा नाश्ते की चीज़ें अनवर के बग़ल में बेंच पर रख रही थीं तब भी वह अपने विचारों की भूलभुलैया में खोया रहा और उसके सोचने का क्रम उस समय तक नहीं टूटा जब तक वागडा ने कहा नहीं— 'दोपहर से बकता बकता अब जाके सोया है।"

"हरीश बहुत दिनों से बीमार है। यद्यपि उसने कभी यह माना नहीं। मेरा विचार है कि उस बीमारी से वह कभी भी मुक्त न होगा... ..."

बे सर पैर की बातें सुन कर वागडा से जब रहा न गया तो उसने आश्चर्य प्रगट करते हुये कहा—"रह रह कर क्या बकने लगते हो तुम ? आख़िर कौन कब से बीमार है ?"

अनवर उठकर टहलने लगा। गिलास से चाय पीते हुये उसने उत्तर दिया—"नहीं मैंने यह कहा कि बेचारा हरीश सदैव बीमार ही

रहा। तुमने पूछा था न कि कमल कमल क्या बकता है—"

इतना कह कर अनवर अपनी विचार धारा से तनिक चौंका और अपने को संभालने के उद्देश्य से गर्द से भरी बेंच पर बैठने के लिये जगह देखने लगा। सोच रहा था—वागडा कामरेड सही, किन्तु है तो औरत। उससे इस प्रकार की बातें करना कहाँ तक उचित है। यदि किसी से प्रेम अथवा किसी प्रकार का मानसिक लगाव हो तो उसे बीमारी कह कर तो नहीं सोचा जा सकता। स्त्री पुरुष का पारस्परिक जीवन यदि बीमारी है, मनोवैज्ञानिक ही सही, तो मानव स्वास्थ्य के लिये पृथ्वी पर केवल मर्द अथवा औरत ही को होना चाहिये था।

एक क्षण के लिये इस उलझे हुये ढंग से सोच कर अनवर ने चाहा कि बात बदल दे। बेंच पर बैठ कर उसने दो घूँट जलती चाय पी, फिर तश्तरी में से अख़रोट उठाते हुये बोला—"हरीश के माँ-बाप जब से मरे तभी से उसकी हालत बिगड़ने लगी। वैसे तो वह मालूम नहीं होने देता कि उस घटना से ज़्यादा असर भी उसने लिया। किन्तु मैं उससे चूंकि एक ज़माने से परिचित हूँ इसलिये मुझे मालूम है कि उसके ऊपर उस समय क्या बीती। माँ का देहान्त जब वह बनारस में पढ़ता था तभी हो गया। जब घर गया तो बाप ने कहा कि पढ़ाई छोड़ कर अब कोई नौकरी कर लो। यह बात उसे पसन्द न आई। किन्तु हरीश का पूरा जीवन अपनी इच्छा और मर्ज़ी के ख़िलाफ़ काम करने की जैसे एक जीती जागती मिसाल है। पिता के सामने सिवाय शब्द 'हाँ' के जब कुछ और कहना उसने सीखा ही न था तो उनकी बात मान लेने के अतिरिक्त और क्या करता। पिता के पेन्शन का समय आ गया था। इसलिये उन्होंने सोचा कि अपने जीते जी हरीश को कहीं लगा दें। किन्तु समय ऐसा न था कि आसानी से कहीं नौकरी मिल जाती। हरीश घर में पड़ा पड़ा ऊब जाता। पिता की संगति कुछ ऐसी थी नहीं कि उनके साथ किसी

का जी लगता—"

बागडा को यह संदेह तो न हुआ कि अनवर ने बात बदल दी थी। किन्तु उसकी बेजोड़ बातचीत में उसे यह ज़रूर ख़याल हुआ कि आज अनवर की मानसिक स्थिति कुछ ऐसी हो गई है कि बकते ही रहना चाहता है। इसलिये एक तरह से उसकी बात काटने के उद्देश्य से बागडा ने पूछा—"तो क्या उसी ज़माने में तुम हरीश को जानते हो?"

अनवर चाय पी चुका था। जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली और अब कमीज़ और जाँघिये की सारी जेबों पर हाथ फेर कर दियासलाई ढूंढ़ रहा था। किसी तरह दियासलाई मिली तो वह ऐसी सिल गई थी कि जलाए न जले। होठों के बीच सिगरेट दबाये, एक हाथ में डिबिया और दूसरे में सलाई की बत्ती लिये बागडा के प्रश्न का उत्तर देने लगा—

"नहीं, भेंट तो उससे बिहार के भूकम्प के बाद हुई—"

"उस समय पढ़ना छोड़ चुका था?"

"हाँ पढ़ना कुछ ही दिन पहले छोड़ा था। मैं बता रहा था न कि जब उसे नौकरी नहीं मिली थी और घर पर बैठे-बैठे ऊब जाता तो जी बहलाने के लिये पड़ोस में कोई स्टेशन मास्टर रहते थे उनके यहाँ शाम सबेरे चला जाता था। माँ जब जीवित थीं तो वे स्टेशन मास्टर के यहाँ आती जाती थीं। इसलिये उन लोगों को हरीश पहले से जानता था।"

"तो कमल क्या स्टेशन मास्टर की लड़की थी?"

"मैं बता तो रहा हूँ। शील कमल स्टेशन मास्टर की लड़की थी। हरीश छुटपन से उसे जानता था। चूंकि हरीश के यहाँ केवल स्टेशन मास्टर ही के परिवार का आना जाना था इसलिये हरीश यदि कहीं जाता तो केवल स्टेशन मास्टर के यहाँ।"

"तो यह कैरम वैरम स्टेशन मास्टर ही के यहाँ खेलता होगा?"

"उस समय बनारस में पढ़ता था। छुट्टी में जब घर आता तो स्टेशन मास्टर के यहाँ जाकर जी बहलाता। एक दिन देर करके लौटा तो उसकी माँ ने उससे खाना खाते समय कहा—'हरीश तुम्हारे बाबू जी पूछ रहे थे। तुम्हारा कालेज कब खुलेगा?' बस हरीश के लिये इतना काफ़ी था। दूसरे दिन वह बनारस के लिये रवाना हो गया।"

वागडा ने हरीश के विषय में अपना रोग-निदान सत्य उतरते देख कर कहा—"यह तो मैं भी सोचता हूँ कि हरीश नेहायत ही कोमलचित्त मनुष्य है। चाहे कहे ना लेकिन छोटी से छोटी बात से भी वह बहुत असर लेता है।"

"हाँ, देखो यह छोटी सी घटना वास्तव में कितना प्रकाश डालती है उसकी तबीयत पर। उसके बाद छुट्टियों में उसने घर ही आना छोड़ दिया। इस प्रकार स्टेशन मास्टर का घर और शील कमल सब उसके लिये एक साथ ख़त्म हो गये। और यदि फिर कभी उनके यहाँ गया तो कई साल बाद, यानी माँ के देहान्त के बाद। लेकिन वह भी सिलसिला ज़्यादा दिन न चला। एक दिन योंही नाज़िर जी ने कहा—'तुम को अधिक किसी के यहाँ नहीं आना जाना चाहिये।' इतना काफ़ी था। उसी सप्ताह बाप से बहाना करके बनारस चला गया। किन्तु उसका असली जीवन उस समय से आरम्भ होता है जब कई साल बाद शील कमल के घर वालों से भेंट होने पर स्टेशन मास्टर ने उसे पहचाना तक नहीं। शील कमल से कहाँ से मिलता। मेरी उसकी भेंट—"

बातों का क्रम टूट गया था। अनवर और वागडा दोनों चुप बैठे रहे। किन्तु जहाँ ज़बानें बन्द थीं वहाँ मस्तिष्क चुप न थे। दोनों सोचते रहे और हो सकता है दोनों एक ही बात सोचते रहे। यदि एक ही बात न भी रही हो तो कम से कम दोनों के विचारों का शीर्षक एक ही था।

सोचते रहे और ख़ामोश रहे। अँधेरा हो गया था। वागडा ने नेत्र ऊपर कर के अनवर की ओर देखा। जंगल का कुहरा, जो छावनी को चारों ओर से घेरे हुये था, अब छावनी के दालान में फैल गया था। अनवर का मुख वागडा को दिखाई नहीं दे रहा था। वागडा ऐसा अनुभव कर रही थी कि जैसे उसके मस्तिष्क में भी कुहरा फैल रहा था। उसने एक बार फिर अनवर की ओर देखा। किन्तु ऐसा अनुभव किया कि जैसे अनवर उससे कई मील की दूरी पर बैठा था।

"हरीश आज छः साल से पार्टी के साथ है। पार्टी के लोग जानते हैं उसके कंधे पर कितना बड़ा बोझ है। किन्तु अपने दिल पर वह कितना बड़ा बोझ लिये फिरता है, यह शील कमल भी शायद नहीं जानती। मैंने हरीश से बार-बार कहा कि दिल से इस बोझ को हटा दो। तुम्हारे हित में यही है। हरीश ने सदैव हँस कर टाल दिया। हमेशा मुझे यही समझाता रहा कि आज पार्टी के किसी आदमी को इस प्रकार की बातें सोचने का भी अधिकार प्राप्त नहीं है। किन्तु जहाँ मुझको इस तरह समझा कर बहला सकता था वहाँ ख़ुद को धोखा देकर भी शील कमल की कल्पना से वह अपने को मुक्त न कर सका······एक सौ दो डिग्री बुखार की हालत में मैंने उसको पार्टी के वास्ते काम करते देखा है। जैसे उसने पार्टी ही को शील कमल समझ लिया हो—"

वागडा ने नेत्र उठा कर अनवर की ओर फिर देखा। किन्तु अब इतना भी दिखाई न देता था कि वह बता सकती कि अनवर वहीं या वहाँ से कई मील की दूरी पर से बोल रहा था। वह ऐसा अनुभव कर रही थी कि जैसे कोहरा अब मस्तिष्क से उतर कर आँखों की पुतलियों पर छाया जा रहा था।

"हरीश एक युग से बीमार है। यह स्वयं हरीश ने भी नहीं समझा। आज उसे बीमार देख कर ऐसा अनुभव होता है कि जैसे

पार्टी बीमार है ···मैं बीमार हूँ······तुम बीमार हो······"

"अनवर मुझे सर्दी लग रही है। मालूम होता है मैं भी ····· "

अनवर ने जैसे सुना ही नहीं—

"पार्टी के सर पर ख़तरे की तलवार लटक रही है। हरीश को अच्छा हो जाना चाहिये। वरना ······वरना······"

"वागडा! वागडा!! कामरेड वागडा, मैं अच्छा हो गया! मैं अच्छा हो गया!!"

"वागडा सुनती हो? हरीश बुला रहा है!"

"अनवर! अनवर तुम कहाँ हो!! अँधेरा हो रहा है, मुझे दिखाई नहीं देता। मै बीमार हूँ······अनवर!"

आँसू और पसीना

कुछ दिन हुये किसी समाचार पत्र ही में यह समाचार देखा था। एक महावत हाथी पर सवार चला जा रहा था। मई-जून का महीना था, इसलिये गर्मी अपनी जवानी पर थी। महावत ने सड़क के किनारे एक बाग़ में ठहर कर पासी की दूकान से ताड़ी ख़रीदी और प्यास बुझाने के लिये दो-तीन लोटे ताड़ी पी गया। फिर हाथी पर सवार हुआ और, चूँकि शाम होते-होते ज़मींदार के लड़के की शादी में पहुँचना था हाथी के सिर में एक-आध बार अंकुसी और दोनों कानों के नीचे पैरों के अंगूठे चुभाकर हाथी की चाल बढ़ा दी। हाथी पर बैठे फ़ीलवान को दोपहर की जब धूप लगी तो साँझ की उतारी हुई ताड़ी में जैसे नया उबाल पैदा हुआ। कुछ दूर आगे जाकर रास्ते के किनारे आम के वृक्षों की घनी छाँव में महावत ने हाथी रोक दिया और नीचे उतर कर सोचा कि ज़मीन पर अंगौछा बिछाकर थोड़ी देर आराम कर ले।

मई-जून की दोपहरी खुले मैदान में तपते हुये सूर्य की गर्मी लिये आम के बाग में साँय-साँय कर रही थी। हवा किसी ओर से भी

आहट नहीं देती थी। हाथी उस असह गर्मी में वृक्ष के नीचे खड़ा झूमता रहा। मगर पीठ पर भारी हौदा लिये आखिर कब तक एक ही जगह खड़ा झूमता रहता। अतः जब महावत नशे की गहरी नींद सो रहा था हाथी उसके आस-पास चारों ओर घूमने लगा। सूँड़ से उसने यह सूँघा और वह सूँघा। लेकिन न कुछ खाने को था न पीने को और गर्मी वही थी। सूँड़ ऊपर की ओर उठाकर उसने आम की हरी पत्तियों का भी अन्दाज़ा लगाया। किन्तु आम की ऊँची पत्तियाँ अंगूर न होते हुये भी उसके लिये खट्टी ही साबित हुईं।

इसलिये अब वह अपनी सूँड़ की नोक से हाथीवान के सिरहाने धीरे-धीरे टटोलने लगा। महावत लोग बहुधा पोटली सर के नीचे ही रख कर सोते हैं। किन्तु हाथी को वहाँ भी क्या मिलता। इसलिये अब उस ने सूँड़ से महावत का मुँह, नाक और कान सूँघना शुरू किया। एक बार सूँघा, दो बार सूँघा। महावत की भीगी-भीगी साँस ताड़ी से शराबोर थी। हाथी को कुछ अच्छा ही लगा। अब जो हाथी को शरारत सूझी ता उसने सूँड़ की बारीक नोक से, जिसके बारे में यह कहा जाता है कि हाथी उस से सुई तक उठा सकता है, महावत के दाहिने कान में टटोला।

नशा से चूर महावत चौंक कर उठ बैठा। हाथी बिल्कुल सिरहाने खड़ा था। उसकी समझ में कुछ न आया। हाथी का बायाँ पैर अपने सिर के इतने पास देख कर उसे क्रोध का एक झोंका सा आया। धुँधले मस्तिष्क में से एक धुँधला सा चित्र गुज़र गया, जिसमें महावत के सिर पर हाथी का पैर था। कुछ साफ़ तो सोच सकता न था, ताड़ी सोचने नहीं देती थी। नशे का एक और लहरा आया और महावत ने हाथी की ओर देख कर जैसे क्रोध और प्यार के मिले जुले भाव से कहा—"क्यों बेटे, ऐसी बात !"

हाथीवान ने अनुभव किया कि जैसे एक क्षण के लिये हाथी भी मुसकराया। जब हाथी ने दाहिना पैर आगे की ओर बढ़ाया हाथी-

वान उठ खड़ा हुआ और उछल कर दस क़दम दूर गया। फिर उसने दाहिनी जाँघ पर ताल ठोंक कर आगे बढ़ते हुये कहा—"अच्छा तो आ जावो जवान आज, फिर जो होई सो देखा जाई।" यह कह कर आगे लपका और हाथी का सूँड़ पकड़ कर पूरी शक्ति लगाकर लड़ने लगा। हाथी की समझ में भी वह पहलवानी का नाटक क्या आता। लेकिन जब उसने देखा कि थोड़ी देर ज़ोर लगा कर महावत बार-बार पीछे जाता है ताल ठोंककर हाथी की सूँड़ से खम्भे की तरह लड़ता और ज़ोर लगाता है और ललकार ललकार कर आवाज़ें भी देता है तो हाथी ने भी सम्भवतः समझा कि फीलवान खेल कर रहा है। इसलिये हाथी ने भी महावत को सूँड़ में लपेट कर उसे हलके से ज़मीन पर दे दिया। और जब उसी समय उसके मस्तिष्क में भी खेल की गर्मी पैदा हुई तो उसका दाहिना पैर महावत के सिर पर पहुँच गया।

इस समाचार को पत्रिका में पढ़कर जब महावत को मैंने ताल ठोंककर हाथी को चुनौती देते सोचा तो मुझे पसीना आ गया। किन्तु जब इस पर विचार किया कि संवाददाता ने यह समाचार देते समय इस बात पर ज़ोर दिया था कि महावत ने ख़ुद एक घड़ा ताड़ी पी ली थी और हाथी को भी उसने ताड़ी पिला दी थी तो आदमी की मूर्खता को सोचकर आखो में आँसू आ गया।

जिस आदमी को यह सोचने की आदत पड़ गई हो कि दो और दो मिलकर सिर्फ़ चार होते हैं वह आसानी से नहीं सोच सकता कि हाथी को चुनौती देने को आदमी के लिये एक घड़ा ताड़ी पीना ज़रूरी नहीं। और पीठ पर पाँच मन का हौदा बँधे हुये हाथी को दस-बीस मील धूप में चल कर दाहिना पैर हाथीवान के सिर पर रखने के लिये ताड़ी के नशे की आवश्यकता नहीं।

उस जीवन को कोई क्या कहे जिसमें सुख दुख वैसे ही हों जैसे शतरंज की बिसात पर सफेद और काले खाने। सफेद के बाद

काला घर और काले के बाद सफेद, फिर काला और फिर सफेद। काले घर में पहुँच कर पियादे का हौसला समाप्त नहीं हो जाता और हौसलों के लिये सदैव ताड़ी अथवा शराब के नशे की आवश्यकता नहीं होती। जीवन में किसी नशे का सहारा लेना स्वयं हार की घोषणा है। बहुधा शराब और ताड़ी के दीप हौसलों के खंडहरों ही में जलते हैं।

आदमी के जब सारे हौसले समाप्त हो जाते हैं तभी सम्भवतः वह महावत बनता है। वर्ना जीवन सफल बनाने के लिये हाथी का मालिक बनना क्या कम था। नशे में जो हौसला पैदा हुआ उसका अभिप्राय हाथी को हराना कभी न था। परन्तु हाथी कमबख्त इसे अगर न समझे तो महावत बेचारा क्या करे।

जब भाग्य उदय होने को होता है तो जो भी आता है वह कुछ न कुछ देकर जाता है और जब वह बिगड़ने को होता है तो जो आता है वह कुछ लेकर ही जाता है। यदि हाथीवान् का भाग्य फूट जाय तो बेचारा हाथी भी क्या करे। उसके लिये यही क्या कम था जो वह महावत को अपना असली मालिक न समझते हुये भी अपनी गर्दन पर बैठाये न जाने कब से फिरता था। अब यदि उसके एक ही बार सिर पर पैर रखने में हाथीवान ख़तम हो जाय तो इसमें बेचारे हाथी का क्या दोष।

मानव और पशु के बीच मूल अन्तर एक ही माना गया है—बुद्धि का। किन्तु बुद्धि को भी हम हौसले का फल कह सकते हैं, इस लिये कि मनुष्य और दूसरे जीवों में मूल अन्तर केवल हौसले का होता है। आदमी के हौसले ने दुनिया में जो दीप जलाये उसी के प्रकाश को हम सभ्यता कहते हैं। प्रकाश की क्षितिज पर अन्धकार होता है। किन्तु मनुष्य प्रकाश से प्रसन्न होता है और अन्धकार से अप्रसन्न।

महावत मर गया, हाथी जीवित है। जब रोशनी बुझ जाती है

तब अन्धकार का साम्राज्य स्थापित हो जाता है। किसी को अन्धकार से डर लगता है किसी को बिना नशे के हौसले से। नशे का हौसला तो हाथीवान का था जिसे नासमझ हाथी ने भी खेल ही समझा।

महावत आँसू और पसीना दोनों का विषय है। आँसू दुख और सुख दोनों के होते हैं। पसीना सफलता की कोशिश के क्षण में आता है। किन्तु हार की लाज का पसीना और ही होता है।

हाथीवान हमारा आँसू भी था और पसीना भी।